उत्तराध्ययन और श्रीमद्भगवद्गीता प्रवचनमाला-3

विजयी बनो

आचार्य महाश्रमण

श्रीमद्भगवद्गीता और उत्तराध्ययन

विजयी बनो

आचार्य महाश्रमण

जैन विश्व भारती प्रकाशन, लाडनूं

संपादक : साध्वी सुमतिप्रभा

प्रकाशक : जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं-३४१३०६
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं. : (०१५८१) २२६०८०/२२४६७१
ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

छठा संस्करण : जून २०१३

मूल्य : ६०/- (साठ रुपये मात्र)

मुद्रक : पायोराईट प्रिण्ट मीडिया प्रा. लि., उदयपुर

प्रवचन करना मेरा प्रायः प्रतिदिन का कार्य है। पिछले कुछ वर्षों में मैंने विभिन्न धर्मग्रन्थों को आधार बनाकर प्रवचन किए। परमपूज्य गुरुदेव आचार्य महाप्रज्ञ के इंगितानुसार मैंने श्रीमद्भगवद्गीता और उत्तराध्ययन पर शताधिक व्याख्यान दिए। साध्वी सुमतिप्रभा ने उस व्याख्यानमाला के कुछ वक्तव्यों को निबन्धों का आकार दिया। पिछले कुछ वर्षों से वह मेरे वक्तव्यों के संपादन और निबन्धीकरण कार्य में गहरी निष्ठा के साथ संलग्न है।

प्रस्तुत पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीता में विश्वास रखने वाले और उत्तराध्ययन में आस्था रखने वाले तथा अन्य जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी बन सकेगी। शुभाशंसा।

आचार्य महाश्रमण

अनुक्रम

१. सात्त्विक बनो	१
२. मोहविजयी बनो	६
३. आत्मा को देखो	१२
४. धर्माचरण करो	१६
५. दिव्यसंपदा प्राप्त करो	२०
६. सत्याकाश में उड़ान भरो	२३
७. आसुरी शक्ति से बचो	२८
८. सत्संगत करो	३२
९. आत्मविजयी बनो	३७
१०. कषायविजयी बनो	४१
११. आहार कैसा हो?	४५
१२. शारीर तप तपो	५२
१३. मन पवित्र रखो	५६
१४. निष्कांक्ष तप करो	६०
१५. उत्तम दान दो	६५
१६. सुप्रत्याख्यान करो	७६
१७. आसक्ति त्यागो	८०
१८. सम्यक्ज्ञानी बनो	८३
१९. निष्काम कर्म करो	९१
२०. अप्रमत्तकर्ता बनो	९५
२१. शुद्ध बुद्धि का विकास हो	१०२

२२. धृति धारण करो १०७
२३. सात्त्विक सुख प्राप्त करो ११३
२४. वर्ण व्यवस्था कर्म से हो ११७
२५. कर्तव्यसिद्ध बनो १२३
२६. आत्मकर्तृत्व को जानो १२७
२७. ज्ञानयज्ञ करो १३०
२८. वीतरागता का सूर्य उगाओ १३४

१

सात्त्विक बनो

आस्तिक दर्शनों ने पुनर्जन्म की अवधारणा को स्वीकार किया और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को प्रस्तुत भी किया। जब तक कर्म नष्ट नहीं हो जाते, तब तक प्राणी एक जन्म के बाद दूसरे जन्म को प्राप्त होता रहता है। प्रश्न होता है कि जब पुनर्जन्म होता है तो कौन आदमी किस योनी में पैदा होगा? इस प्रश्न का उत्तर हमें उत्तराध्ययन में भी प्राप्त होता है और श्रीमद्भगवद्गीता में भी प्राप्त होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में अनेक रूपों में इसका उत्तर दिया गया है। गीता के चौदहवें अध्याय में तीन गुणों के आधार पर इसका समाधान देते हुए कहा गया है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।।१४/१८।।

सत्त्वगुण में स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकों को प्राप्त होते हैं, रजोगुण में स्थित राजस पुरुष मध्य में अर्थात् मनुष्य लोक में ही रहते हैं और तमोगुण के कार्य रूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादि में स्थित तामस पुरुष अधोगति को अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियों को तथा नरकों को प्राप्त होते हैं।

सत्त्वगुण जिस व्यक्ति में होता है, वह सात्त्विक वृत्तिवाला होता है, ज्ञान की आराधना करता है। उसके जीवन का क्रम अच्छा होता है। वह व्यक्ति मरने के बाद उस ओर प्रयाण करता है, जिस ओर परमात्मा होता है। वह मोक्ष की तरफ गति करता है, परन्तु मोक्ष में जाता नहीं है। वह बीच में ही रह जाता है यानी देवगति में जाकर पैदा होता है। जो व्यक्ति रजोगुणवाला होता है यानी जिसमें लोभ है, राग है, आसक्ति है, न ज्यादा पाप करता है, न ज्यादा धर्म करता है, वह व्यक्ति मरकर वापस मनुष्यगति में पैदा होता है। जिस आदमी में

तमोगुण की प्रधानता होती है यानी प्रमाद, मोह, अज्ञान से जिसकी चेतना आवृत होती है, ऐसा तामस गुणवाला व्यक्ति मरकर अधोगति में जाता है। हम लेश्या के संदर्भ में विचार करें तो शुक्ल लेश्या की प्रधानतावाला व्यक्ति उच्चगति को प्राप्त करता है। मध्यम लेश्याओं का परिणामवाला व्यक्ति वापिस मनुष्यगति को प्राप्त हो सकता है और कृष्ण लेश्या के परिणामवाला व्यक्ति नरक या तिर्यंचगति में जाकर पैदा हो सकता है। जैसे गीता में सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के आधार पर ऊर्ध्वगति, मध्यमगति, अधोगति को बताया गया है, वैसे ही उत्तराध्ययन सूत्र में भी एक उदाहरण के माध्यम से तीन गतियां बताई गई हैं। जैसे तीन वणिक् मूलपूंजी को लेकर निकलते हैं। उनमें से एक लाभ उठाता है, एक मूल लेकर लौटता है और एक मूल को भी गंवाकर लौटता है। यह व्यापार की उपमा है। इसी प्रकार धर्म के विषय में जानना चाहिए। वहां कहा गया है—

माणुसत्तं भवे मूलं, लाभो देवगई भवे।
मूलच्छेएण जीवाणं, नरगतिरिक्खत्तणं धुवं।।७/१६।।

मनुष्यत्व मूलधन है। देवगति लाभरूप है। मूल के नाश से जीव निश्चित ही नरक और तिर्यंचगति में जाते हैं।

जो पाप का जीवन जीते हैं, हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि में अनुरक्त रहते हैं। वे व्यक्ति अथवा तमोगुणवाले व्यक्ति मरकर अधोगति में जाते हैं। जो मनुष्य बनकर न तो पतन की ओर जाता है और न विकास की ओर जाता है, न कमाई करता है और न मूल पूंजी को गंवाता है यानी जो मूल पूंजी को सुरक्षित रख लेता है, वह पुनः मनुष्यगति को प्राप्त करता है। जो मनुष्य बनकर न ज्यादा लोभ करता है, न माया-छलना करता है, जो सरल होता है, भद्र होता है, ज्ञानार्जन करने में अपने पुरुषार्थ का नियोजन करता है, वह ऊर्ध्वगति को प्राप्त करता है। सत्त्वगुणवाले सात्त्विक लोग, रजोगुणवाले राजस लोग और तमोगुणवाले तामस लोग होते हैं। सात्त्विक लोग ऊर्ध्वगति में, राजस लोग मध्यमगति में और तामस लोग अधोगति में उत्पन्न होनेवाले होते हैं। आदमी को यह विचार करना चाहिए कि मेरा व्यवहार, आचार, भाव किस प्रकार का है? मैं कहीं तमोगुणवाला न बन जाऊं। मैं रजोगुण के भावों में न रहूं। मैं सत्त्वगुण प्रधान बना रहूं। वर्तमान में और मृत्यु के समय अगर सत्त्वगुण की प्रधानता है तो विश्वास किया जा सकता है कि मरने के बाद दुर्गति नहीं मिलेगी, ऊर्ध्वगति में पैदा होने का मौका मिलेगा।

हमारी दुनिया में अनेक प्रकार के व्यक्ति हैं। कुछ व्यक्ति महान् होते हैं, कुछ मध्यम होते हैं और कुछ अधम होते हैं। वे व्यक्ति महान् होते हैं, जिनमें कुछ विरल विशेषताएं होती हैं। सन्त कबीरदासजी ने कहा—

नमन खमन अरु दीनता, सबका आदर भाव।
कहे 'कबीरा' वही बड़ा, जा का बड़ा स्वभाव।।

जिस व्यक्ति में नम्रता, क्षमा, समर्पण और सबके प्रति आदर का भाव है, वह व्यक्ति महान् है। महान् व्यक्तित्व के घटक तत्त्वों में पहला तत्त्व है—नम्रता। जब व्यक्ति अहंकारग्रस्त होता है, तब नीच बन जाता है।

नम्र व्यवहारवाला व्यक्ति परमानन्द की ओर अग्रसर होता है। महान् बनने का सीधा-सा रास्ता बता दिया कि नम्र बनो। आदमी को कठिनाइयों के सामने नहीं झुकना चाहिए, किन्तु पूज्यों के सामने अवश्य झुकना चाहिए। अक्खड़पन नम्रता का बाधक तत्त्व है। राजस्थानी भाषा में एक दोहा प्रचलित है—

तुम आओ डग एक, तो हम आएं डग अट्ठ।
तुम हमसे करड़े रहो, तो हम हैं करड़े लट्ठ।।

अरे भाई! यदि तुम एक कदम आगे आते हो तो हम आठ कदम आगे आएंगे, किन्तु तुम अकड़कर रहोगे तो हम भी कड़े लाठी की तरह रहेंगे।

नम्रता का एक अंग सेवा के साथ जुड़ा हुआ है। कई बार सेवा व्यवस्थागत भी होती है, किन्तु वह आत्मीयता के साथ होनी चाहिए। ऐसे भी लोग होते हैं जो स्वेच्छा से लक्ष्य के साथ दूसरों की सेवा करते हैं। इस दृष्टि से आचार्य भिक्षु के सुशिष्य मुनिश्री खेतसीजी स्वामी का नाम बड़े आदर के साथ लिया जा सकता है। जब गुरु ने रात में जगाने का त्याग कर दिया तो शिष्य ने सोने का ही त्याग कर दिया। विनम्रता के बिना इस प्रकार का व्यवहार हो नहीं सकता। जब आदमी दूसरों के प्रति नम्र रहता है तो वह दूसरों के लिए आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। लोग उससे प्रेम करते हैं, उसे चाहते हैं। हर किसी को लोग नहीं चाहते। जो दूसरों का भला करता है, सेवा करता है, विनय व्यवहार करता है, लोग उसे चाहते हैं। सेवाभावना भी महान् बनने का एक सशक्त माध्यम है।

सेवा में भी विवेक होना चाहिए। जहां-जहां सेवा में अविवेक जुड़ता है, नासमझी जुड़ती है, सेवा भी विकृत बन जाती है। किस व्यक्ति को किस सेवा

की अपेक्षा है, यह भी ध्यान देना अपेक्षित होता है। अविवेकयुक्त सेवा हास्यास्पद भी बन सकती है। सेवा के क्षेत्र में उदारवृत्ति का प्रयोग भी आवश्यक है।

दूसरा तत्त्व है—क्षमा। महान् व्यक्ति वह होता है, जिसमें क्षमा होती है। श्रमण धर्म के दस प्रकारों में पहला प्रकार है—क्षमा। साधु को सहनशीलता का प्रशिक्षण देते हुए कहा गया कि उसे पृथ्वी के समान सहनशील होना चाहिए। पृथ्वी पर कोई थूकता है, कोई कुछ करता है, कितने भारी-भरकम वाहन चलते हैं, फिर भी पृथ्वी शान्त रहती है, कभी अक्षमा नहीं बनती, किन्तु मेरे मन में विचार आया कि पृथ्वी भी कभी-कभी असहिष्णु बन जाती है। जब भूकम्प आता है तो उसमें कितने लोग मर जाते हैं, कितनी हानि होती है? भूकम्प के माध्यम से वह किस प्रकार जनहानि और मालहानि कर देती है। फिर भी सामान्यतया पृथ्वी को **सर्वं सहा** कहा गया है। एक मुनि के लिए भी **'सर्वं सहो मुनि'** कहा गया है। जब प्रतिकूल स्थिति सामने आती है, तब व्यक्ति कई बार आवेशयुक्त बन जाता है। फिर वह कुछ भी कह देता है और कुछ भी कर लेता है। क्षमा के अभाव में व्यक्ति भयंकर गर्मी-सर्दी की स्थिति में आकुल-व्याकुल बन जाता है। हालांकि वर्तमान में भौतिक साधन इतने विकसित हो गए हैं कि साधन-सम्पन्न व्यक्तियों में कठोरता को सहने का सामर्थ्य भी कुछ कम हो गया है। आदमी सहिष्णु बनने का प्रयास करे। मौसमजनित समस्याओं एवं अन्य स्थितियों को सहन करनेवाला व्यक्ति महान् बन सकता है।

तीसरा तत्त्व है—अपने आराध्य के प्रति भक्ति का भाव। जिस साधक में या भक्त में अपने आराध्य के प्रति सर्वात्मना समर्पण होता है, वह महान् बन सकता है। **लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूर** लाघव आदमी को ऊंचा उठाता है, बड़ा बना देता है। तेरापंथ इतिहास का प्रसंग है—तृतीय आचार्यश्री रायचन्द्रजी ने अपने उत्तराधिकारी युवाचार्यश्री जीतमलजी को बीदासर से बीकानेर जाने का निर्देश दिया। निर्देश भी तब दिया, जब वे चतुर्मास करने के लिए बीदासर पहुंच चुके थे। आषाढ़ का महीना। भयंकर गर्मी का समय। बीदासर के लोगों ने कहा—युवाचार्यश्री! आप तो बुद्धिमान हैं। कोई गली निकाल लीजिए। आप कोई ऐसा कार्य करें कि आचार्यश्री का आदेश भी रह जाए और आपको यहां से विहार भी न करना पड़े। युवाचार्यश्री ने कहा—श्रावको! क्या बात करते हो? **गळी काढ़ै गिंवार** गली तो गिंवार व्यक्ति निकालता है, मैं तो महाजन हूं। मैं गुरुदेव के आदेश का हृदय से अक्षरशः

पालन करूंगा। युवाचार्यश्री ने बीदासर से विहार कर दिया। कहा जाता है कि भयंकर गर्मी के कारण मार्ग में मारणान्तिक कष्ट आए, किन्तु दृढ़ मनोबली युवाचार्यश्री बीकानेर पहुंच गए। यह है समर्पण। जहां इस प्रकार का समर्पण होता है, वहां महानता उजागर होती है।

चौथा तत्त्व है—सबका आदरभाव। आदमी सबके प्रति आदरभाव रखे। किसी की अवहेलना न करे। जैनशास्त्रों में तो यहां तक कहा गया है कि एक छोटे से छोटे प्राणी की भी आशातना नहीं करनी चाहिए। दूसरों के प्रति आदर की, सम्मान की भावना आदमी को ऊंचा उठाती है। कभी-कभी आदमी सम्मान पाना तो चाहता है, किन्तु देने में संकोच करता है। जो व्यक्ति सम्मान देता है, उसे ही सम्मान मिलता है। सीधा-सा सूत्र है—इस हाथ से दो और उस हाथ से लो। जो अहंकारी होता है, किसी को आदर-सम्मान नहीं देता है, उसे दूसरे लोग भी कब तक और कितना सम्मान देंगे? जो व्यक्ति सबके प्रति, चाहे बच्चा हो या बड़ा आदर का भाव रखता है, उसका हृदय पवित्र बनता है। वह व्यक्ति महान् बन सकता है। जिस आदमी में नम्रता है, क्षमा है, समर्पण है और सबके प्रति आदर का भाव है, वह व्यक्ति बड़ा होता है। वास्तव में जिसका स्वभाव अच्छा होता है, वह महान् होता है। महान् व्यक्ति में सद्गुणों का विकास होता है। वह अपनी आत्मा की ओर, मुक्ति की ओर अग्रसर हो जाता है।

एक दिन आदमी को जाना होगा, यह तो निश्चित है, पर जाने के बाद कौन कहां पैदा होगा, यह महत्त्वपूर्ण बात है। आदमी शुक्ल लेश्या और सत्त्वगुण प्रधान बना रहे। वह अहिंसा, ईमानदारी, नैतिकता में विश्वास रखनेवाला और वैसा आचरण करनेवाला बने तो निश्चितरूप से उसकी अगली गति अच्छी हो सकेगी।

२

मोहविजयी बनो

धार्मिक साहित्य में संसार को सागर भी कहा गया और संसार को अटवी भी कहा गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में संसार को पीपल का वृक्ष कहा गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते, नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।।१५/३।।

इस संसारवृक्ष का जैसा स्वरूप कहा है, वैसा यहां विचारकाल में नहीं पाया जाता अर्थात् जैसा स्वरूप शास्त्रों में वर्णित है और जैसा देखा, सुना जाता है, वैसा तत्त्वज्ञान होने के पश्चात नहीं पाया जाता है, क्योंकि न तो इसकी आदि है, न इसका अन्त है और न इसकी अच्छी प्रकार से स्थिति ही है। यह क्षणभंगुर और नाशवान है, इसलिए इस अहंकार, ममकार और वासना रूप अति दृढ़ मूलोंवाले संसार रूपी पीपल के वृक्ष को दृढ़ वैराग्य रूपी शस्त्र द्वारा काटकर परमात्मा को खोजना चाहिए।

यह संसार एक पीपल का पेड़ है, पर यह पीपल का पेड़ पूजा के योग्य नहीं है। पीपल के पेड़ का जैसा रूप होता है, इसका वैसा रूप भी नहीं है। यह ऐसा वृक्ष है, जिसका न तो अन्त होता है और न इसकी कोई आदि है। सामान्यतया पेड़ की आदि भी होती है और अन्त भी होता है। यह संसार रूपी वृक्ष अनादि अनन्त है। हम जैन तत्त्वविद्या के संदर्भ में विचार करें तो व्यक्तिगत दृष्टि से संसार की आदि नहीं है। हमारी आत्मा ने जन्म-मरण करना कब शुरू किया? यह किसी को ज्ञात नहीं है। यद्यपि सबका अन्त भी नहीं होता, परन्तु किसी-किसी आत्मा के जन्म-मरण का अन्त हो सकता है।

इस जन्म-मरण रूपी संसारवृक्ष को काट गिराने से मुक्ति मिलती है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह ऐसा पीपल का पेड़ है, जिसका मूल काफी गहरे में गया हुआ है। जिस वृक्ष की जड़ें गहरे में गई हुई हैं, उसे काटने के लिए शस्त्र भी मजबूत होना चाहिए। छोटे-मोटे शस्त्र से पीपल के वृक्ष को काटना संभव नहीं होता। गीताकार ने कहा—वैराग्य रूपी शस्त्र को काम में लो, अनासक्ति रूपी शस्त्र को काम में लो और उसके द्वारा इस संसाररूपी पीपल के वृक्ष को काट गिराओ। काट गिराने के बाद तुम्हें मुक्ति प्राप्त हो सकेगी। प्रश्न हो सकता है कि हम कैसे समझें, यह मोह का वृक्ष है। समाधान मिला कि इस मोहरूपी वृक्ष की क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि अनेक शाखाएं हैं। इसका मूल है कषाय। उस मूल को काट गिराने से मोह का वृक्ष गिर जाएगा और मोक्ष की संपदा प्राप्त हो जाएगी। मोक्ष की संपदा को पाने के लिए बाधक तत्त्व है—मोह। मोह की विपदा समाप्त हो जाए, फिर मोक्ष की संपदा तो अपने आप प्राप्त हो जाएगी। कुछ-कुछ व्यक्तियों के पास वह मजबूत शस्त्र होता है। तभी वे इस मोह के पेड़ को काट गिराते हैं। साधु बनने के लिए भी अनासक्ति का शस्त्र, वैराग्य का शस्त्र पास में होना चाहिए, तभी परिवार का मोह टूटता है और आदमी साधु बन जाता है। दीक्षा लेनेवाला तो असंग शस्त्र का प्रयोग करता ही है, पर दीक्षा की आज्ञा देनेवाले मां-बाप आदि भी असंग का प्रयोग करते हैं और अपनी संतान को अनुमति देकर उसकी साधना में सहायक बन जाते हैं। आदमी को अगर परम शांति पाना है तो असंग के शस्त्र को तैयार करना होगा, उसकी धार को तीक्ष्ण बनाना होगा। यदि धार तीक्ष्ण नहीं है तो उस पेड़ को काटना मुश्किल है।

यद्यपि मजबूत वैराग्य रूपी शस्त्र के द्वारा इस मोहरूपी वृक्ष को काटा जा सकता है, किन्तु यह कैसे ज्ञात हो कि वृक्ष कट चुका है, क्योंकि वृक्ष सामने गिरा हुआ तो दिखता नहीं। फिर हम अनुमान कैसे लगाएं कि यह मोह का वृक्ष या संसार का वृक्ष कट चुका है। उसके लक्षण क्या हैं?

श्रीमद्भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय में इसके लक्षण बताए गए हैं, जिनसे यह अनुमान किया जा सकता है कि मेरा मोह का वृक्ष कट गया है। अब मुझे मुक्ति मिलनेवाली है। वहां कहा गया है—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा, अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।।१५/५।।

जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्ति रूप दोष को

जीत लिया है, जिनकी परमात्मा के स्वरूप में नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएं पूर्ण रूप से नष्ट हो गई हैं, वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपद को प्राप्त होते हैं।

जिसका मोह रूपी पेड़ कट गया, उस आदमी में अहंकार नहीं रहेगा और उसका परिवार आदि के प्रति भी मोह नहीं रहेगा। सामान्यतया थोड़ा कुछ मिलने पर भी आदमी को अहंकार आ जाता है। वह सोचता है—मैं इतना बड़ा बन गया, मुझे यह पोस्ट मिल गई, मुझे अमुक सम्मान मिल गया, कितने लोग मेरी बात को सुनने के लिए आते हैं, कितने लोग मेरी प्रशंसा करते हैं। जैन तत्त्वविद्या में जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य को मद का कारण बताया गया है यानी विभिन्न विषयों में आदमी को अहंकार आ जाता है। जिसको कितना ही बड़ा सम्मान मिल जाए, कितना ही ऊंचा पद मिल जाए, कितनी ही प्रशंसा मिल जाए, फिर भी अहंकार नहीं करता, इसका मतलब उसका मोह रूपी पीपल का पेड़ कुछ कट चुका है।

राजा मोहजीत का प्रसंग है। इन्द्रदेव सभा में बैठा था। मानवीय गुणों की चर्चा चल रही थी। इन्द्र ने राजा मोहजीत का नामोल्लेख करते हुए उसके आध्यात्मिक दृष्टिकोण की प्रशंसा की। मोहजीत का पूरा परिवार वास्तव में मोहजीत था। उसके पारिवारिक सदस्य आध्यात्मिक तत्त्वदर्शन को समझते थे और वैसा ही जीवन जीते थे। एक देव के मन में इन्द्र द्वारा प्रशंसित राजा की परीक्षा लेने की बात उठी। उसने दैविक शक्ति से राजा के इकलौते राजकुमार को कहीं छिपा दिया और स्वयं योगी का वेश बनाकर घूमने लगा।

राजकुमार को खोजती हुई एक दासी योगी के निकट से गुजरी। उसने योगी से पूछा—योगीराज! कहीं राजकुमार को देखा है? योगी यह प्रश्न सुनकर उदास हो गया। वह रोता हुआ बोला—हाय! वह राजकुमार ही था, जिसको अभी-अभी मेरे आश्रम के सामने एक सिंह ने मार डाला।

दासी योगी की दयनीय अवस्था देखकर कहने लगी—राजकुमार के लिए तुम इतने विह्वल हो रहे हो, यह उचित नहीं है। तुम योगी हो, संन्यासी हो, जन्म और मृत्यु की नियामकता को जानते हो, फिर यह आर्त्तध्यान क्यों?

देव ने सोचा—यह दासी है। दासी के मन में ममता क्यों होगी? राजा के पास पहुंचकर यह घटना सुनाऊं, तब उसके मोहजीत होने का पता चलेगा। योगीवेश में देव राजभवन पहुंचा और राजा को राजकुमार पर सिंह के आक्रमण

का संवाद सुनाया। राजा शांतभाव से बोला—योगीराज! संयोग और वियोग सृष्टि का निश्चित क्रम है। इसमें हर्ष और विषाद क्यों किया जाए?

फिर योगी रानी के पास गया और करुण विलाप के स्वरों में राजकुमार के मृत्यु की सूचना दी। रानी ने सुना, दो क्षण आंख मूंदकर वह बोली—जो मेरा है, उसे मुझसे कोई छीन नहीं सकेगा। जो मेरा नहीं है, उसकी मैं कितनी ही सुरक्षा करूं, टिक नहीं सकेगा। आप व्यर्थ क्यों संतप्त हो रहे हैं?

देव मन ही मन राजा और रानी की अनासक्त चेतना से अभिभूत होता हुआ राजकुमार की पत्नी के पास पहुंचा। उदास चेहरा, गद्गद्वाणी, आंखों में पानी और विक्षिप्त-सी मनोदशा में वह युवराज्ञी के सामने राजकुमार की मृत्यु का द्रावक चित्र उपस्थित करता है और स्वयं मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है। युवराज्ञी योगी को संबोधित कर बोली—योगीराज! योगसाधना के साथ मोह और अधीरता का कोई संबंध नहीं है। आपने घर छोड़ा है, पर लगता है आपसे घर की वासना नहीं छूटी है। आप मेरी चिंता न करें। मेरा पति मेरे भीतर है। वह मुझे छोड़कर कहीं नहीं जा सकता।

देव हतप्रभ हो गया। योगी का रूप छोड़कर वह अपने मूल रूप में प्रकट हुआ। छिपाए हुए राजकुमार को राज परिवार के मध्य उपस्थितकर बोला—इन्द्र ने आपके बारे में जो कुछ कहा, वह शत प्रतिशत सही है। वास्तव में आपने मोह पर विजय प्राप्त कर ली है।

राजा मोहजीत मोहविजेता बन सकता है तो एक अन्य आदमी भी मोहविजेता बन सकता है। यह हमारी एक सामान्य प्रकृति है कि जिसके साथ रहते हैं या लंबे काल तक रहते हैं तो मोह हो जाता है। मोह न हो तो फिर संसार भी नहीं रहेगा। मोह है तभी यह संसार चल रहा है। मोह के अनेक रूप हैं, किन्तु यहां विशेष रूप से ममता रूपी मोह के लिए कहा गया है। सामान्य रूप का मोह संसार की दृष्टि से अवांछनीय भी नहीं होता।

जो बच्चे अपंग होते हैं, विकलांग होते हैं, उनकी भी मां-बाप सेवा करते हैं, क्योंकि उनके साथ कोई न कोई मोह का धागा बंधा हुआ है। यद्यपि उनसे प्रतिफल की कोई आशा नहीं रहती, फिर भी ऐसे बच्चों की भी विशेष रूप से मां सेवा करती है, पर जिसको मोक्ष जाना है उसको मोह छोड़ना पड़ेगा।

जो हमेशा आत्मा में रमण करनेवाले हैं, अध्यात्म में रहनेवाले हैं, सांसारिक चीजों में मोह नहीं रखते, उन्हें बाहर की समस्याएं परास्त नहीं कर

सकतीं। जिसका मोह रूपी पेड़ कट जाता है, वह व्यक्ति आत्मस्थ बन जाता है। मानो उनका जीवन अध्यात्ममय बन जाता है। जब जीवन अध्यात्ममय बन जाता है तो कामनाएं लौट जाती हैं। सामान्यतया आदमी में कामना रहती है। गृहस्थ में अनेक प्रकार की एषणाएं देखने को मिलती हैं, जैसे—पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा आदि। किन्तु जिसका मोह रूपी पेड़ कट जाता है, वह व्यक्ति कामना से मुक्त हो जाता है। फिर कोई आकांक्षा नहीं रहती। न धन की आकांक्षा, न संतान की आकांक्षा, न यश-प्रतिष्ठा की आकांक्षा रहती है। वह निष्काम बन जाता है।

राग और द्वेष द्वन्द्व है। जब जीवन में सुख-दुःख आता है तो मनुष्य में राग और द्वेष का भाव उत्पन्न होता है, किन्तु जिसका मोह रूपी पीपल का पेड़ कट जाता है, वह व्यक्ति द्वन्द्वों से विमुक्त हो जाता है। फिर भले सुख हो या दुःख, बीमार हो या स्वस्थ, सम्मान मिले या अपमान, लाभ हो या अलाभ, जीवन हो या मृत्यु, हर स्थिति में वह व्यक्ति सम रहता है। जो व्यक्ति मोह से ग्रसित नहीं रहते, अमूढ़ या अमोह बन जाते हैं, वे अव्यय स्थान को प्राप्त हो जाते हैं। अव्यय स्थान वह होता है, जहां जाने के बाद कुछ व्यय न हो, वापिस आना न पड़े। वह स्थान मोक्ष का है। मोक्ष में जाने के बाद ऐसा नहीं होता कि इतने वर्षों के बाद वापिस जन्म लेना पड़ेगा। वहां ऐसा कोई समय का व्यय नहीं होता, जिस समय के बीतने के बाद वापिस जन्म-मरण के चक्र में आना पड़े। आदमी का लक्ष्य बड़ा होना चाहिए। लक्ष्य बनाने के बाद प्रयास करने से कभी मंजिल मिल सकती है। कुछ आराधना साधना करने के लिए, अच्छे ग्रंथों का स्वाध्याय करने के लिए आदमी समय निकालने का प्रयास करे।

समय तो अपने हिसाब से बीत जाता है, पर समय का सम्यक् उपयोग करनेवाला व्यक्ति बड़ा होता है। समय सबको मिलता है। पशुओं को भी समय मिलता है और मनुष्यों को भी समय मिलता है। चौबीस घंटे सबको बराबर मिलते हैं, परन्तु कौन, क्या उपयोग करता है, यह खास बात होती है। चौबीस घंटों का हम सम्यक् नियोजन करना सीख लें। जो गृहस्थ हैं, वे ज्यादा समय नहीं निकाल सकें तो प्रत्येक घंटों में से अगर दो-दो मिनट भी निकाल लें तो अड़तालीस मिनिट उनके पास हो जाएंगे। अड़तालीस मिनट में एक सामायिक भी हो सकती है। सामायिक में सावद्ययोग का त्याग किया जाता है और समता का अभ्यास किया जाता है। आदमी त्याग से डरे नहीं, त्याग को स्वीकार करे और मानव जीवन को सफल बनाने का प्रयास करे।

कई गृहस्थ इतने उच्च साधक होते हैं, इतने धर्मपरायण होते हैं कि संसार की मोह-माया से हटकर स्वाध्याय, ध्यान आदि में लगे रहते हैं। वे घंटों-घंटों साधना करते हैं। मृत्यु के समय पैसा साथ में चलनेवाला नहीं है, मकान साथ में चलनेवाला नहीं है, नाम, ख्याति साथ में चलनेवाली नहीं है। साथ में धर्म चलता है, कर्म चलते हैं, इसलिए आदमी धर्म की साधना आराधना करे ताकि मोह रूपी पीपल का वृक्ष कट जाए और आदमी अव्ययी स्थान प्राप्त कर सके।

गीताकार ने महत्त्वपूर्ण तथ्य बताया है कि जिसमें अहंकार, मोह, आसक्ति और राग-द्वेष नहीं रहता, जो द्वन्द्वातीत बन जाता है, कामनातीत बन जाता है और अध्यात्म-परायण बन जाता है, वह मोक्ष पाने के लायक बन जाता है। जो व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, वास्तव में वही विजेता होता है।

३

आत्मा को देखो

भारतीय दर्शनों में आत्मा के बारे में सुंदर चित्रण किया गया है। आस्तिक दर्शनों का एक महत्त्वपूर्ण आधारभूत सिद्धान्त है—आत्मा। आत्मा के होने पर ही कर्मवाद आदि का माहात्म्य स्थापित होता है। यदि आत्मा का शाश्वत अस्तित्व ही स्वीकार न हो तो फिर अध्यात्म, धर्म, साधना आदि का महत्त्व समाप्त या बहुत कम हो जाएगा। अगर आत्मा स्थायी नहीं है, केवल एक जन्म तक ही शरीर और जीवन है तब तो साधना का इतना दुर्गम मार्ग स्वीकार करना मेरे खयाल से बुद्धिमत्ता नहीं होगी। एक जीवन को तो जैसे-तैसे भी पार किया जा सकता है, किन्तु आगे भी आत्मा का अस्तित्व है, यह सिद्धान्त जब आस्था का विषय बनता है, तब साधुत्व, साधना आदि का महत्त्व बढ़ जाता है। आत्मा पर विश्वास होने के बाद ही साधना की बात पुष्ट होती है।

मनुष्य के भीतर अनेक वृत्तियां काम करती हैं और उन वृत्तियों से प्रेरित होकर आदमी विभिन्न प्रवृत्तियों में भी संलग्न हो जाता है। आदमी अच्छा काम करता है तो भी कोई प्रेरणा काम करती है और गलत काम करता है तो भी कोई प्रेरणा काम करती है। आदमी में तीन चीजें होती हैं—रति, तृप्ति और संतोष। श्रीमद्भगवद्गीता में इन तीन शब्दों का प्रयोग किया गया है। रति यानी प्रेम। सामान्यतया आदमी की रति विषय-भोगों में, पदार्थों में या व्यक्ति विशेष में रहती है। तृप्ति उसे भोजन आदि करने से होती है और संतोष धन आदि की प्राप्ति में होता है। ये सब बाह्य चीजें हैं। जो साधना की उच्च भूमिका पर आरूढ़ हो जाता है, उसकी रति, तृप्ति और संतुष्टि का स्थान परिवर्तित हो जाता है। इस संदर्भ में गीता में बताया गया है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।३/१७।।

जो मनुष्य आत्मा में ही रमण करनेवाला और आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही संतुष्ट है, उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं है।

पहला शब्द है रति। आदमी प्रभु का स्मरण करते-करते इतना लीन हो जाता है कि फिर विषय-भोगों की ओर मन जाता ही नहीं। अभ्यास करते-करते जब आदमी आत्मा में रमण करने लग जाता है, फिर विषय-भोगों की तरफ आकर्षण समाप्त हो जाता है। जो रति विषय-भोगों में होती है, वह आत्मा में हो जाती है।

दूसरा शब्द है तृप्ति। जो तृप्ति भोजन आदि से होती है, वह तृप्ति उसे ध्यान आदि में या आत्मा में रहने से हो जाती है। यह अलग बात है कि कौन, कितना आत्मा तक पहुंचा हुआ है, परन्तु आत्मा की तरफ जाने के उपक्रम का नाम है साधना। साधना की स्थिति तब बनती है, जब रति, तृप्ति और संतुष्टि आत्मा में हो जाती है।

तीसरा शब्द है संतोष। जहां संतोष बाह्य चीजों से होता है, वहां आत्म-साधना करनेवाला व्यक्ति अपने आपमें संतुष्ट हो जाता है। उसे आत्मा में ही संतोष की अनुभूति होती है।

साधक आत्मरतिवाला बन जाए। उसकी तृप्ति भी आत्मा में हो, न कि बाह्य सुखों में और संतुष्टि भी आत्मा में हो, न कि बाह्य पदार्थों में। जिसने संतोष को प्राप्त कर लिया, उसने बड़ा सुख प्राप्त कर लिया।

राजस्थान के मारवाड़ क्षेत्र में चूड़ा पहनने की परम्परा रही है। अभी भी कुछ-कुछ गांवों में औरतें चूड़ा पहनती हैं। एक ग्रामीण महिला ने अपने पति से आग्रह करके एक चूड़ा मंगवाया। उसने मन में सोचा कि मैं चूड़ा पहनूंगी, तब गांव की बहुत सारी औरतें आएंगी और मुझसे पूछेंगी—बहन! यह चूड़ा कहां से लाई? किन्तु उसने चूड़ा पहन रखा है, यह देखने के लिए गांव की कोई औरत नहीं आई। उसने अपनी झौंपड़ी के आग लगा दी। लोग एकत्रित हो गए और देखा कि बेचारी बुढ़िया की झौंपड़ी जल गई। लोगों ने पानी डाला, आग को बुझाने का प्रयास किया। फिर कई औरतें बोलीं—अरे, बाईजी! यह चूड़ा तुमने कब पहन लिया? बुढ़िया ने कहा—अगर थोड़ी देर पहले यह बात पूछ लेती तो मेरी झौंपड़ी तो नहीं जलती। उस बुढ़िया ने केवल अपना चूड़ा दिखाने की भावना से अपनी झौंपड़ी को जला दिया।

यदि आदमी के मन में दिखावे की भावना है, प्रदर्शन की भावना है, इसका मतलब है वह आत्मा से दूर है। जिसमें आत्मरति आ गई, आत्मतृप्ति

आ गई, आत्मसंतुष्टि आ गई, उसमें फिर नाम या दिखावे की भावना नहीं होती।

आत्मा एक ऐसा तत्त्व है, जिसको इन्द्रियों के द्वारा नहीं देखा जा सकता। उसका तो साधना के द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है। श्रीमद्भागवद्गीता में कहा गया—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।।१५/१०।।

शरीर को छोड़कर जाते हुए को अथवा शरीर में स्थित हुए को अथवा विषयों को भोगते हुए को, इस प्रकार तीनों गुणों से युक्त हुए को भी अज्ञानीजन नहीं जानते, केवल ज्ञान रूप नेत्रोंवाले विवेकशील ज्ञानी ही तत्त्व से जानते हैं।

आत्मा एक देह को छोड़कर दूसरी देह को धारण करने के लिए गति करती है। उस कालमान में मोहग्रस्त लोग आत्मा को जान नहीं पाते। आत्मा शरीर में स्थित रहती है, उस अवस्था में भी उसे मोहग्रस्त लोग देख नहीं पाते। व्यक्ति भोग भोगता है, उस समय भी मूढ़ व्यक्तियों के द्वारा आत्मा को देखा नहीं जाता। रजोगुण, तमोगुण और सत्त्वगुण से युक्त आत्मा को भी मोहग्रस्त लोग जान नहीं पाते। फिर प्रश्न हुआ कि कौन व्यक्ति आत्मा को जान सकता है? गीताकार ने सुन्दर समाधान दिया कि स्थूल नेत्र वाले लोग आत्मा को नहीं जान पाते। जिनके पास अतीन्द्रिय ज्ञान का नेत्र है, वे व्यक्ति आत्मा का अनुभव कर सकते हैं, जान सकते हैं।

प्रेक्षाध्यान साधना का प्रमुख घोष है—**संपिक्खए अप्पगमप्पएणं** अर्थात् आत्मा के द्वारा आत्मा की प्रेक्षा करो। पूर्ण रूप से तो आत्मा की प्रेक्षा केवलज्ञान की अवस्था में ही हो सकती है। जब तक इन्द्रियज्ञान है, तब तक संपूर्णतया आत्मा से आत्मा का अवलोकन नहीं हो सकता। आचार्य भिक्षु ने 'नव पदारथ' नामक ग्रन्थ में भगवती सूत्र के आधार पर आत्मा के तेईस नाम बताए हैं। उनमें एक नाम है—नायक। आचार्य भिक्षु ने नायक की व्याख्या करते हुए कहा कि आत्मा न्याय करनेवाली है। वह जैसा कर्मों का बंधन करती है, वैसा ही फल पाती है। पुण्य का कार्य करने पर पाप का फल मिले, ऐसा अन्याय आत्मा के द्वारा नहीं हो सकता। वह ठीक न्याय करती है, इसलिए आत्मा को नायक कहा गया।

जैन साधना पद्धति में जो व्यक्ति मुनि-दीक्षा को स्वीकार करता है, उसमें

अवश्य ही आत्मनिष्ठा की भावना उत्पन्न होती है, तभी वह साधना के पथ पर बढ़ता है। हालांकि कोई-कोई साधु ऐसा भी हो सकता है, जिसमें आत्मनिष्ठा जैसी कोई बात नहीं होती है। आत्मा के प्रति आस्था की बात तो दूर, जिसके सम्यक्त्व का स्पर्श भी नहीं हुआ और न कभी होगा, ऐसा अभव्य व्यक्ति भी साधु संस्था में समाविष्ट हो सकता है। इतना ही नहीं, वह साधु संस्था में आचार्य पद पर भी आसीन हो सकता है। उसके द्वारा दीक्षित साधु मोक्ष में चला जाता है और आचार्य वहीं का वहीं रह जाता है। वह कभी मोक्ष में नहीं जा सकता यानी आत्मा के प्रति आस्था के अभाव में कोई साधु बन सकता है, पर मोक्ष नहीं जा सकता।

आत्मरति, आत्मतृप्ति और आत्मसंतुष्टि हो जाने के बाद साधक के लिए करणीय साधना का कोई उपक्रम अवशेष नहीं रहता। वह आत्मलीन हो जाता है और वीतरागता की भूमिका पर आरोहण कर लेता है।

धर्माचरण करो

हमारी दुनिया चेतन और अचेतन—इन दो तत्त्वों से आलोकित हो रही है। चेतन और अचेतन के सिवाय इस लोक में कुछ भी नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।१५/१६।।

इस संसार में नाशवान् और अविनाशी—ये दो प्रकार के पुरुष हैं। इनमें संपूर्ण भूत प्राणियों के शरीर तो नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है।

जैसे दुनिया दो तत्त्वों का योग है, इसी तरह प्राणी का जीवन भी दो तत्त्वों का योग है—शरीर और आत्मा। गीता के अनुसार शरीर को क्षरपुरुष और आत्मा को अक्षरपुरुष कहा गया है। क्षरपुरुष का मतलब है, जिसका क्षरण होता है, नाश होता है, जिसमें चयापचय होता है, जो विनाशधर्मा है। अक्षरपुरुष का मतलब है, जिसमें क्षरण नहीं होता, जो नित्य अविनाशी रहता है। आत्मा नित्य है। वह नित्य इस रूप में है कि आत्मा के जो असंख्य प्रदेश हैं, उनमें से एक प्रदेश भी कभी क्षीण नहीं होगा, झड़ेगा नही, गिरेगा नहीं और एक भी नया प्रदेश आकर उसमें मिलेगा नहीं। उतने ही प्रदेश हमेशा थे, उतने ही हैं और उतने ही हमेशा रहेंगे। इस संदर्भ में आत्मा अक्षर है, नित्य है, कूटस्थ है। आचार्य हेमचन्द्र ने अभिधान चिन्तामणि ग्रंथ में कूटस्थ शब्द का अर्थ किया है—**कूटस्थं कालव्याप्येकरूपतः** अर्थात् सर्वदा एक रूप में स्थित रहनेवाले अत्यन्त स्थिर पदार्थ का नाम है कूटस्थ। आत्मा में पर्याय परिवर्तन होता है। उस रूप में वह कूटस्थ नहीं भी है। जो आत्मा कभी मनुष्य के रूप में होती है, वह कभी देवता

के रूप में हो सकती है। आत्मा स्थायी तत्त्व है और देह अस्थायी तत्त्व है। जो अस्थायी है, वह सदा नहीं रहता, कभी न कभी नष्ट हो जाता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में शरीर और आत्मा के बारे में बताते हुए सुंदर उदाहरण दिया गया है—

सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो।।२३/७३।।

शरीर को नौका, जीव को नाविक और संसार को समुद्र कहा गया है। महान्—मोक्ष की एषणा करनेवाले इसे तैर जाते हैं।

शरीर और आत्मा दो चीजें हैं। शरीर नौका के समान है, जीव नाविक के समान है और यह संसार समुद्र के समान है। महर्षि साधक इस शरीर रूपी नौका से संसार सागर को तैर जाते हैं। एक नौका सछिद्र होती है और एक निश्छिद्र होती है। सछिद्र नौका डुबोनेवाली होती है और निश्छिद्र नौका सागर के उस पार पहुंचानेवाली होती है। जीवन में अगर पाप है, बुराइयां हैं, हिंसा, झूठ, चोरी आदि हैं तो मानना चाहिए इस शरीर रूपी नौका में छेद हो गए हैं और अहिंसा, संयम आदि की साधना है, पापों से विराग है तो मानना चाहिए नौका निश्छिद्र है। आदमी ध्यान रखे कि कहीं इसमें छिद्र न हो जाए। यदि कहीं छिद्र हो जाए तो उसे रोकने का प्रयास करना चाहिए। जैन तत्त्वविद्या के अनुसार ये छिद्र आश्रव हैं। इन छिद्रों को रोकने का काम संवर का है। जब तक आश्रव रहेगा, आत्मा संसार में परिभ्रमण करेगी। आश्रवों का निरोध हो जाएगा तो संसार का भ्रमण कम हो जाएगा। पहले से जो कर्म चिपके हुए हैं, उनको निर्जरा के द्वारा तोड़कर इस आत्मारूपी नौका को खाली करना होगा।

हम गीता के क्षरपुरुष को भी समझें। उसका भी उपयोग है। वह नहीं होगा तो मुक्ति की साधना कैसे होगी? इस शरीर के द्वारा साधना की जाती है। यह शरीर धर्म का आदिभूत साधन है। शरीर के बिना तो सिद्ध अवस्था होती है, इसलिए सिद्धों का एक नाम अशरीरी बताया गया है। हम शरीर को जानें, पर शरीर को सब कुछ न मानें। शरीर के सिवाय भी जो कुछ है, हम उस आत्मा की खोज करें। शरीर की अपेक्षा आत्मा पर ज्यादा ध्यान दें। हमारी आत्मा शुद्ध रहे, निर्मल रहे, पापों से अलग रहे। अध्यात्म की दृष्टि से विचार करें तो शरीर एक साधन बनता है, पर जो आत्मा पर ध्यान ही न दे, शरीर उसका कितना साधन बन पाएगा? अध्यात्म की दृष्टि से शरीर का उपयोग करना चाहिए।

पहले आत्मा को समझें, आत्मा पर ध्यान दें तो आत्मा के लिए शरीर का उपयोग हो सकेगा। आत्मा साध्य है, शरीर उस साधना में साधन के रूप में काम आ सकता है, पर आत्मा में जो मिलेगा, शरीर में नहीं मिलेगा। शरीर के भीतर तो अशुचि पदार्थ हैं। शुद्ध आत्मा में अनंत आनंद है, अनंत ज्ञान है, अनंत दर्शन है, परम सुख है।

पंडित जगन्नाथजी की दिल्ली-नरेश के साथ एक बार अनबन हो गई। वे दिल्ली छोड़कर नेपाल चले गए। नेपाल के राजा ने उन्हें अच्छी व्यवस्था दी, सुविधा दी। एक बार नेपाल-नरेश ने पंडितजी से पूछा—पंडितजी! किसी बात की कमी तो नहीं है? पंडितजी तो फक्कड़ थे। उन्होंने जवाब दिया—महाराज! क्या बताऊं आपको? स्थिति यह है—

दिल्ली वा जगदीश्वरो वा, मनोरथान् पूरयितुं समर्थः।
नेपालराजैः परिदीयमानं, शाकाय वा स्यात् लवणाय वा स्यात्।।

महाराज! स्पष्ट बात यह है कि पंडित जगन्नाथ की अपेक्षा की पूर्ति या तो भगवान् कर सकता है या फिर दिल्ली-नरेश कर सकता है। दिल्ली-नरेश में जैसी उदारता है, समृद्धि है, वैसी उदारता, समृद्धि अन्यत्र दुर्लभ है। वही हमारी इच्छाओं की पूर्ति कर सकता है। नेपाल के राजा जो मुझे दे रहे हैं, उससे तो साग-भाजी की पूर्ति हो सकती है। इससे ज्यादा नेपाल-नरेश के द्वारा मुझे कुछ नहीं मिल रहा है।

हम शरीर और आत्मा के संदर्भ में देखें। शरीर से हमें शाक, लवण रूप कुछ मिल सकता है, पर आत्मा से जो परम आनंद मिलेगा, वह शरीर से नहीं मिल सकता। शरीर भौतिक है और आत्मा अभौतिक है। साधना के लिए कुछ अंशों में शरीर की अनुकूलता भी आवश्यक होती है। दसवेआलियं में कहा गया—

जरा जाव न पीलेइ, वाही जाव न वड्ढई।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे।।८/३५।।

जब तक बुढ़ापा पीड़ित न करे, व्याधि न बढ़े और इन्द्रियां क्षीण न हो, तब तक धर्म का आचरण करे।

जब तक बुढ़ापा न सताए, तब तक तुम धर्म की साधना कर लो। बुढ़ापा आने के बाद धर्म की साधना में कुछ कठिनाई हो सकती है। युवा लोग दिन में दो बार, चार बार भी धर्मस्थान में आ सकते हैं, धर्म की बात सुन सकते हैं, पर

जो नब्बे या सौ वर्ष के आसपास हैं, उनका बार-बार धर्मस्थान में आना भी कठिन है। जब तक व्याधि उत्पन्न न हो, तब तक साधना की जा सकती है। जब व्याधि शरीर को जकड़ लेती है, उसके बाद धर्म की आराधना में कठिनाई हो सकती है। जब पैर से चला नहीं जाता, आंखों से दिखाई नहीं देता और अन्य बीमारियां ऐसी लग जाती हैं, जो ठीक होने का नाम ही नहीं लेतीं, तब आदमी शरीर की चिकित्सा कराए या धर्मध्यान की साधना करे। यद्यपि मनोबली पुरुष हो तो शरीर की परवाह भी न करे। वह घर बैठे अपनी साधना और मंत्र आदि का जप कर लेता है।

वृद्ध अथवा बीमार लोग, जो साधु-साध्वियों के पास नहीं जा सकते, उनके लिए हमारा परामर्श है कि वे अच्छे गीत-भजन गाते रहें। नवकार-मंत्र और ॐ भिक्षु का जप करते रहें। वह भी कर्म निर्जरा का साधन बन जाएगा और अगली गति को अच्छी बनाने में भी उसका योगदान रह सकेगा। जिनके लिए उठना-बैठना भी कठिन है, वे लेटे-लेटे भी पाठ करें, आत्म-चिन्तन करें, आगम या गीता जैसे ग्रंथ सुनते रहें ताकि उनके अध्यवसाय, भाव शुद्ध बनें रहें। यदि भाव शुद्ध होंगे तो अगली गति अच्छी होने की संभावना बन जाएगी।

अंतिम बात बताई कि जब तक इन्द्रियों की शक्ति क्षीण न हो जाए, तब तक धर्म करो। जिसकी इन्द्रियां क्षीण हो गईं, जैसे कोई व्यक्ति सुन नहीं पाता, वह यदि व्याख्यान में आ भी गया तो श्रवण-शक्ति के अभाव में कितना, क्या सुन पाएगा? जिसे आंखों से दिखाई नहीं देता, वह पुस्तक से स्वाध्याय कितना कर पाएगा? एक अवस्था के साथ धीरे-धीरे शरीर में शिथिलता आनी शुरू हो जाती है। घुटनों में दर्द के कारण चलने में कुछ अक्षमता, दिखने में अक्षमता, सुनने में अक्षमता, कई अक्षमताएं आ जाती हैं।

भाग-दौड़, परिश्रम भी वही व्यक्ति कर सकता है, जिसका शरीर सक्षम होता है। शरीर की अक्षमता के बाद आदमी कितना, क्या काम कर पाएगा? गीताकार के अनुसार दो पुरुष हैं—क्षर और अक्षर। जो अक्षर पुरुष है, वह कभी बूढ़ा नहीं होता। वह हमेशा एक समान रहता है, किन्तु जो क्षरपुरुष है, वह विनाशशील है। यद्यपि विनाश को रोकना तो संभव नहीं, पर हम इस बात के प्रति जागरूक रहें कि जब तक हमारा क्षरपुरुष काम करता है, हम उससे लाभ उठाते रहें। यह जागरूकता हमारा कल्याण करनेवाली बन सकेगी।

५

दिव्यसंपदा प्राप्त करो

संपदा के दो प्रकार हैं—दैवीय संपदा और आसुरी संपदा। दुनिया में अनेक लोगों में दैवीय संपदा देखने को मिलती है तो बहुत-से लोगों में आसुरी संपदा भी देखने को मिलती है। प्रश्न होता है कि दैवीय संपदावाले व्यक्ति के क्या लक्षण हैं और आसुरी संपदावाले व्यक्ति के क्या लक्षण हैं? श्रीमद्भगवद्गीता में दैवीय संपदा के अनेक लक्षण बताए गए हैं। उन लक्षणों के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि किस व्यक्ति में दैवीय संपदा है। गीता में कहा गया—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।१६/१।।

श्रीकृष्ण ने कहा—भय का सर्वथा अभाव, अन्तःकरण की पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञान के लिए ध्यानयोग में निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियों का दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनों की पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मों का आचरण एवं वेद-शास्त्रों का पठन-पाठन तथा भगवान् के नाम और गुणों का कीर्तन, स्वधर्मपालन के लिए कष्ट सहन और शरीर तथा इन्द्रियों सहित अंतःकरण की सरलता।

जिसमें दैवीय संपदा होगी, उसमें अभय का विकास होगा। डरपोक आदमी हिंसा कर सकता है। भयभीत आदमी मृषावाद का प्रयोग भी कर सकता है। अहिंसा और सत्य की साधना में भय एक बाधक तत्त्व है। अभय रहनेवाला व्यक्ति अहिंसा धर्म की भी आराधना कर सकता है और सत्य धर्म की भी साधना कर सकता है। कभी-कभी भय से प्राणी हिंसक हो जाता है। कई बार मार्ग में भैंसें चमक जाती हैं और आक्रामक-सी बन जाती हैं। बहुत वर्षों पहले मैं पड़िहारा गांव में गया। वहां भैंसें काफी थीं। मैं एक गली से गुजर रहा था।

एक भैंस मेरी ओर इस प्रकार आक्रामक बनकर आई, मानो मुझे मारने आ रही हो। वह इतनी आक्रामक क्यों बनी? संभवतः भैंस मुझसे डर गई और अपनी सुरक्षा के लिए हिंसक व आक्रामक बन गई। कहने का तात्पर्य है कि भय के कारण प्राणी हिंसक बनता है।

जैन रामायण में जब रावण के बारे में भविष्यवाणी की गई कि राजा जनक की संतान के कारण और राजा दशरथ की संतान के द्वारा रावण का वध होगा, तब रावण की सुरक्षा की दृष्टि से विभीषण ने प्रयास किया कि जनक और दशरथ दोनों को ही मैं मार दूं, जिससे न तो जनक के संतान होगी, जो रावण के वध की कारणभूत होनेवाली है और न दशरथ के संतान होगी, जो रावण को मारनेवाली है। दोनों को मारने का प्रयास किया गया, पर नियति का योग था कि जनक और दशरथ दोनों ही बच गए। उनको पहले ही सूचना मिल चुकी थी कि षड्यंत्र रचा जा रहा है। इसलिए वे पहले ही अज्ञातवास में चले गए। उनके स्थान पर मूर्ति स्थापित की गई। विभीषण ने अपना वार व्यक्ति समझकर मूर्ति पर कर दिया। कहने का तात्पर्य है कि भविष्य में मुझे मारेगा, इसलिए भी आदमी हिंसक बन जाता है।

गीताकार ने कहा कि अभय का विकास है तो मानना चाहिए दैवीय संपदा का विकास हुआ है। जिसके भाव शुद्ध हैं, जो ज्ञानयोग में रहता है, ज्ञान-प्राप्ति की चेष्टा करता है, चिन्तन-मनन करता है। जिसमें दान की भावना है, जो देना चाहता है यानी जिसमें पदार्थ के प्रति ज्यादा आसक्ति नहीं है, इन्द्रियों और मन का संयम है, जो यज्ञ करनेवाला है। यज्ञ भी दो प्रकार का होता है—आंतरिक यज्ञ और बाह्य यज्ञ। आंतरिक यज्ञ ज्ञानरूप और संयमरूप यज्ञ होता है। इसमें जो आहूतियां देता है, उसमें दैवीय संपदा का विकास होता है। जो स्वाध्याय करता है यानी अपने स्वरूप को पहचानने के लिए अध्ययन करता है, जो तपःशील है, अपनी इन्द्रियों और मन को जीतने के लिए तपस्या करता है, जिसमें सरलता है, निष्कपटता है, उसमें भी दैवीय संपदा का विकास होता है। आचार्य सोमप्रभसूरि ने अपने ग्रंथ 'सिन्दूरप्रकर' में कहा है—

कुशलजननवन्ध्यां सत्यसूर्यास्तसन्ध्यां,
कुगतियुवतिमालां मोहमातङ्गशालाम्।
शमकमलहिमानीं दुर्यशोराजधानीं,
व्यसनशतसहायां दूरतो मुञ्च मायाम्।।५३।।

कल्याण को पैदा करने के लिए माया वंध्या स्त्री के समान है। सत्य रूपी सूर्य को अस्त करने के लिए वह संध्या के समान है। कुगति रूपी युवति का वरण करने के लिए वह माला के समान है। मोह रूपी हाथी के लिए वह हस्तिशाला है। उपशम रूपी कमल को नष्ट करने के लिए हिमानी यानी पाले के समान है। अपयश या बदनामी के लिए राजधानी के समान है। सैंकड़ों विपदाओं में सहायता देनेवाली है, इसलिए ऐसी माया को दूर से ही छोड़ दो।

आदमी अपना समीक्षण करे कि मेरे व्यवहार में सरलता है अथवा कुटिलता का प्रयोग भी होता है? कुटिलता और झूठ दोनों का संबंध है। कुटिलता है तो फिर झूठ का भी प्रयोग हो जाता है। अगर दैवीय संपदा का विकास करना है अथवा दैवीय संपदा की सुरक्षा करनी है तो कुटिलता से दूर रहना होगा। उत्तराध्ययन सूत्र में भी कहा गया—**सोहीउज्जुयभूयस्स** अर्थात् जो ऋजुभूत होता है, जिसमें सरलता होती है, उसमें शुद्धता रहती है। शुद्धता में धर्म ठहरता है। धार्मिक आदमी में दिव्यता का विकास होता है। यदि दिव्यता का विकास नहीं है तो समझना चाहिए अभी धार्मिकता में कुछ कमी है। हर आदमी सोचे कि मेरे भीतर दिव्यसंपदा का विकास हो और एतदर्थ वैसा प्रयास भी करे, सफलता अवश्य मिलेगी।

६

सत्याकाश में उड़ान भरो

वे व्यक्ति धन्य हैं, जिनमें दैवीय संपदा का विकास होता है। दैवीय संपदा के अनेक लक्षण बताए गए हैं। उन्हीं लक्षणों की शृंखला में श्रीमद्भगवद्गीता में बताया गया है—

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।१६/२।।

मन, वाणी और शरीर से किसी भी प्रकार का किसी को कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करनेवाले पर भी क्रोध न करना, कर्मों में कर्तापन के अभिमान का त्याग, अंतःकरण की उपरति अर्थात् चित्त की चंचलता का अभाव, किसी की भी निन्दा आदि न करना, सब भूत प्राणियों में हेतु रहित दया, इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने पर भी उनमें आसक्ति का न होना, कोमलता, लोक और शास्त्र से विरुद्ध आचरण में लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव।

दैवीय संपदावाला व्यक्ति अहिंसा का जीवन जीनेवाला होगा। अहिंसा को परम धर्म कहा गया है। 'मैं किसी को नहीं मारूंगा' यह न मारने की भावना जिस व्यक्ति में होती है, वह अहिंसक होता है। अहिंसक व्यक्ति यह सोचता है कि मुझे भले कोई तकलीफ दे दे, परन्तु बदले में मैं उसे कोई तकलीफ नहीं दूंगा। ईंट का जवाब पत्थर से देने की बात कही जाती है, परन्तु ईंट का जवाब फूलों से भी दिया जा सकता है।

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है—**आयतुले पयासु** अर्थात् सबको अपने समान समझो। जो व्यक्ति सबको अपने समान समझता है, वह सोचता है कि जैसे मुझे कष्ट अप्रिय है, वैसे ही दूसरों को भी कष्ट और अपमान अप्रिय

होगा। जैसे मुझे सम्मान और सुख प्रिय है, वैसे ही दूसरों को भी सम्मान और सुख प्रिय होगा और यह बात वही व्यक्ति सोच सकता है, जिसके भीतर अहिंसा की चेतना जागृत हो गई है। मैंने एक कसौटी बनाई है कि अगर आदमी के मन में यह संकल्प जाग जाए कि जो व्यवहार मैं दूसरों से नहीं चाहता, वह व्यवहार मैं भी दूसरों के साथ नहीं करूंगा तो समझना चाहिए कि वह व्यक्ति अहिंसक वृत्तिवाला है।

अहिंसा प्राणियों के लिए कल्याणकारी होती है। आदमी को कुछ कष्ट झेलकर भी अहिंसा के रास्ते पर चलना चाहिए। आदमी के जीवन में ऐसे मूल्य आएं, जो लोगों के लिए प्रकाश स्तम्भ बन सकें। वे मूल्य हैं—अहिंसा, नैतिकता, प्रामाणिकता, अनुकंपा आदि। ये मूल्य यदि जीवन-व्यवहार में आ जाते हैं तो मानना चाहिए कि एक सुरक्षा कवच, एक शक्ति और शांति जीवन में प्रतिष्ठित हो गई है।

अहिंसा का एक हार्दिक तत्त्व है कि मानव जाति एक है। इंसान सब भाई-भाई हैं, इसलिए सबमें परस्पर प्रेम और भाईचारा रहना चाहिए। व्यक्तिगत जीवन में अहिंसा हो, एक-दूसरे के हित का चिन्तन किया जाए, एक-दूसरे को सहन किया जाए। समय पर कहा भी जाए और मौके पर सहा भी जाए, किन्तु सब एकात्मकता की अनुभूति करें। जब सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझा जाता है तो मानना चाहिए कि आदमी के जीवन-व्यवहार में अहिंसा प्रतिष्ठित हो चुकी है और जिसमें अहिंसा का गुण होता है, उसमें दैवीय संपदा होती है, ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है।

जिसकी सत्य के प्रति आस्था है, जो झूठ नहीं बोलता, वह दैवीय संपदा की ओर अग्रसर होता है।

अरबिस्तान का शहर बगदाद उच्च शिक्षा हेतु विख्यात था। एक गांव का मेधावी छात्र हजरत गौसुल ने अपनी मां से कहा—मैं उच्च शिक्षा-प्राप्ति हेतु बगदाद जाना चाहता हूं। मां ने उसकी कुशाग्र बुद्धि और विद्या के प्रति प्रेम को देख उसे इजाजत दे दी। उस समय लम्बी यात्राएं अकेले करना संभव नहीं था, लूटपाट का खतरा रहता था। अतः लोग काफिले के साथ यात्रा करते थे।

मां ने ऐतिहात के तौर पर उसके लबादे में चालीस अशर्फियां सिल दी। रवाना होने से पूर्व मां ने पहला सबक (पाठ) देते हुए कहा—सदा सत्य बोलना

एवं खुदा को सदा हाजिर-नाजिर जानना यानी ईश्वर को कभी मत भूलना। गौसुल ने मां से सबक लेकर उन्हें सलाम किया और वादा किया कि आपकी बात को कभी नहीं भूलूंगा।

रास्ते में डाकुओं ने काफिले पर हमला कर उसे लूट लिया। एक डाकू ने गौसुल से पूछा—लड़के! तेरे पास क्या है?

गौसुल—मेरे पास चालीस अशर्फियां हैं।

डाकू—कहां हैं?

गौसुल—मेरे लबादे में सिली हुई हैं।

डाकू ने लड़के की बात को मजाक समझा और आगे चला गया।

दूसरा डाकू आया और गौसुल से वही सवाल पूछा।

गौसुल ने भी वही जवाब दिया। वह डाकू उसे अपने सरदार के पास ले गया और बताया कि इसके लबादे में चालीस अशर्फियां हिफाजत से सिली हुई हैं। सरदार ने सत्य जानने को कहा। थोड़ी देर में चमचमाती चालीस अशर्फियां पेश की गईं।

सरदार ने कहा—लड़का! तू बड़ा अजीब है। तुमने डाकुओं को सच कैसे बता दिया?

गौसुल—मैं उच्च शिक्षा हेतु बगदाद जा रहा हूं। मेरी मां ने चालीस अशर्फियां मेरे लबादे में सिल दी ताकि तकलीफ के वक्त उन्हें काम में ले सकूं। साथ में पहला सबक दिया कि सदा सत्य बोलना एवं खुदा को कभी मत भूलना। मैंने सच बोलकर मां के आदेश का पालन किया है। मेरी मां मेरे लिए खुदा से कम नहीं है। सरदार गौसुल की मातृभक्ति, खुदा के प्रति श्रद्धा एवं सत्यवादिता से बड़ा प्रभावित हुआ। उसने अपनी तरफ से चालीस अशर्फियां और जोड़कर अस्सी अशर्फियां उसे लौटा दी और कहा—बेटे! खूब मन लगाकर पढ़ना और डाकुओं को आदेश दिया कि इस काफिले से लूटा गया माल उन्हें वापस लौटा दो।

उस बच्चे की नेकी का डाकू-सरदार पर गहरा असर हुआ। उसने डकैती करनी छोड़ दी और नेकी से जीवन जीने की प्रतिज्ञा कर ली। हसरत गौसुल बाद में बहुत बड़े सूफी संत बने एवं खूब प्रसिद्धि प्राप्त की।

सत्य का आकाश अनन्त है। उसमें उड़ान भरने के लिए तीन सबल पंखों की आवश्यकता है—

पहला जिज्ञासा का पंख होना चाहिए।

दूसरा ज्ञानाभ्यास का पंख होना चाहिए।

तीसरा अनाग्रह या अनेकान्त की वृत्ति का पंख होना चाहिए।

ये तीन पंख हों तो सत्य के आकाश में आदमी आसानी से उड़ान भर सकता है।

धार्मिक ग्रन्थों में सत्य की बहुत महिमा गाई गई है। आचार्य सोमप्रभसूरि ने 'सिन्दूरप्रकर' नामक ग्रन्थ में कहा है—

विश्वासायतनं विपत्तिदलनं देवैः कृताराधनं,
मुक्तेः पथ्यदनं जलाग्निशमनं व्याघ्रोरगस्तम्भनम्।
श्रेयः संवननं समृद्धिजननं सौजन्यसंजीवनं,
कीर्तेः केलिवनं प्रभावभवनं सत्यं वचः पावनम्।।२९।।

सत्य विश्वास का स्थान है। जो सत्यभाषी होता है, वह सबका विश्वासपात्र बन जाता है। जो विपत्तियों अथवा कष्टों का नाश करनेवाला है, जिसकी देवता आराधना करते हैं, जो मोक्ष-मार्ग में पाथेय के समान है, जो जल और अग्नि की समस्या को शांत करनेवाला है, जो व्याघ्र, सर्प आदि के उपद्रवों को दूर करनेवाला है, जो श्रेय के लिए वशीकरण मंत्र है, जो समृद्धि को पैदा करनेवाला है, सुजनता को बढ़ानेवाला, कीर्ति के लिए क्रीड़ास्थल और प्रभाव का स्थान है, ऐसे पवित्र सत्य की जो आराधना करता है, उसमें दैवीय संपदा का विकास होता है।

जो गुस्से का निमित्त मिलने पर भी कभी गुस्सा नहीं करता, जिसमें त्याग की भावना है यानी संपत्ति आदि को छोड़ने की भावना है, सर्वस्व समर्पण की भावना है, अपने ईष्ट के प्रति समर्पण की भावना है, जो तनाव में नहीं रहता, अशांति में नहीं जीता, अशुद्ध भावों में नहीं रहता तो मानना चाहिए उसमें दैवीय संपदा का विकास हुआ है। जो चुगली नहीं करता, जिसके मन में प्राणियों के प्रति दया है, करुणा है, अनुकम्पा है, दीन दुःखियों को चित्तसमाधि पहुंचाने की भावना है, जो अनासक्त है, जिसमें मृदुता है, कोमलता है, जो अहंकार-शून्य है, वह दैवीय शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति होता है। जिसके जीवन में लज्जा है, उसके जीवन में अनेक बुराइयां तो आ ही नहीं सकती। अनुशासनबद्धता लज्जा

का ही एक प्रकार है। जिसके जीवन में अनुशासन हो और चपलता न हो तो मानना चाहिए उस व्यक्ति में दैवीय संपदा का विकास हुआ है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है–

स वीयरागो कयसव्वकिच्चो, खवेइ नाणावरणं खणेणं।
तहेव जं दंसणमावरेइ, जं चंतरायं पकरेइ कम्मं।।३२/१०८।।

जो वीतराग बन जाता है, वह कृत्कृत्य हो जाता है। वह ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय कर्म को क्षीणकर घाती कर्मों के बंधन व उदय से मुक्त हो जाता है। उसमें परम दैवीय संपदा विकसित हो जाती है। आदमी इन अनेक विशेषताओं का विकास करे तो एक दिन वह अवश्य सत्याकाश में उड़ान भर सकता है।

७

आसुरी शक्ति से बचो

दैवी संपदा और आसुरी संपदा—ये दोनों संपदाएं मनुष्यों में पाई जाती हैं। जिनमें दैवी संपदा का विकास होता है, वे सज्जन लोग महापुरुष होते हैं। जिनमें दैवी संपदा की जगह आसुरी संपदा विकसित हो जाती है, वे दुर्जन लोग होते हैं। जैनविद्या के संदर्भ में विचार किया जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि जो अठारह पाप बताए गए हैं—प्राणातिपात, मृषावाद आदि। ये अठारह पाप जिनमें प्रगाढ़ होते हैं, उन व्यक्तियों में आसुरी संपदा विकसित हुई है, ऐसा माना जा सकता है और जो लोग अठारह पापों से विरत हो जाते हैं, उनमें दैवी संपदा का विकास हुआ है, ऐसा स्वीकार किया जा सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता में दैवी संपदा को बताने के बाद श्रीकृष्ण आसुरी संपदा के बारे में बताते हैं—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्।।१६/४।।

हे पार्थ! दम्भ, घमण्ड और अभिमान तथा क्रोध, कठोरता और अज्ञान—ये सब आसुरी संपदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं।

दंभ की वृत्ति आसुरी संपदा का एक अंग है। इसमें आदमी दूसरों को ठगने की चेष्टा करता है, बात को छिपाने का प्रयास करता है और उसके आचरणों में छलना बनी रहती है। एक व्यक्ति सरल होता है और दूसरा व्यक्ति कुटिल होता है। सरल मतिवाला व्यक्ति हर बात को सरलता से लेता है और कुटिल मतिवाला व्यक्ति बात-बात में कुटिलता का प्रयोग करता है। जिस व्यक्ति में आसुरी संपदा पुष्ट हो जाती है, उसमें दंभ होता है। वह करता कुछ है और बताता कुछ है। जैसा मन में, वैसा वाणी में और वैसा ही आचरण में होना महात्मा का लक्षण है और मन में कुछ, वाणी में कुछ और आचरण में कुछ और

होना, यह दुरात्मा का लक्षण है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि यह आसुरी संपदा का लक्षण है। आदमी विचार करे कि मेरे व्यवहार में छलना तो नहीं है? साधु को तो निश्छल होना ही चाहिए। गृहस्थ भी सोचे कि मेरे में निश्छलता का विकास हो।

अहंकार आसुरी शक्ति का प्रतीक है। मान के साथ क्रोध भी जुड़ा हुआ है। क्रोध और मान दोनों भाई-भाई हैं। दोनों साथ रहनेवाले हैं। कितने-कितने झगड़े अहंकार के कारण होते हैं। यह अहंकार विकास में बाधक बनता है। अहंकार का नाश तब होता है, जब परमानन्द जाग जाता है। आसुरी संपदा से मुक्त होने के लिए व्यक्ति अहंकार को छोड़ने का प्रयास करे।

क्रोध भी आसुरी शक्ति का प्रतीक है। जो आदमी गुस्सा करता है, इसका मतलब उसमें आसुरी शक्ति प्रकट हो रही है। दैवी संपदावाला व्यक्ति गुस्सा नहीं करता, वह शान्त रहता है। यत्किंचित् गुस्सा तो किसमें नहीं होगा? ऐसे व्यक्ति मिलने मुश्किल हैं, जिनको कभी भी गुस्सा नहीं आता। पारिवारिक जीवन में गुस्सा होने से कभी-कभी कठिनाइयां भी पैदा हो जाती हैं। पिता-पुत्र दोनों घर के बाहरवाले कमरे में बैठे थे। घर के अन्दर से किसी बर्तन के गिरने की आवाज आई।

पिता—बेटा! जरा देखना, यह बर्तन किसके हाथ से गिरा है?

लड़का उठा नहीं। दो क्षण रुका और वहीं बैठे-बैठे बोला—पिताजी! यह बर्तन तो मेरी मां के हाथ से गिरा है।

पिता—अरे! यहीं बैठे-बैठे सीधा मां का नाम ले लिया। तुम्हारी पत्नी भी तो अन्दर ही है। जाओ, देखो किसके हाथ से गिरा है?

लड़का अन्दर गया तो देखा कि मां टूटे हुए बर्तन के टुकड़े बटोर रही थी।

लड़का—मां! क्या हुआ?

मां—बेटा! मेरे हाथ से कांच की गिलास गिर गई थी।

लड़का पिता के पास आया और बोला—पिताजी! वह बर्तन तो मेरी मां के हाथ से ही गिरा था।

पिता—बेटा! तुम्हें कैसे पता चला कि तुम्हारी मां के हाथ से गिरा था?

लड़का—पिताजी! बात यह है कि बर्तन के गिरने की आवाज बंद होने के बाद घर में शांति बनी रही। तब मैंने अनुमान लगा लिया कि यह बर्तन मां के

हाथ से ही गिरा है। अगर यह बर्तन मेरी पत्नी के हाथ से गिर जाता तो बर्तन की आवाज तो बंद हो जाती, पर मां का रेडियो कई देर तक चलता रहता। मैंने देखा, आज रेडियो नहीं बजा, इसका मतलब है कि यह बर्तन मां के हाथ से ही गिरा है। इस प्रकार परिवार में छोटी-छोटी बातों में लड़ाई झगड़ा होता रहता है। आदमी अपने गुस्से पर नियंत्रण करने का प्रयास करे।

जब आदमी को गुस्सा आता है, तब वह आवेशयुक्त बन जाता है। शान्त स्वभाववाला आदमी जितना अच्छा लगता है, बात-बात में आक्रुष्ट होनेवाला और अंट-संट बोलनेवाला व्यक्ति उतना ही अशोभनीय लगता है। उसके साथ रहना भी अच्छा नहीं लगता। आदमी इस गुस्से की बीमारी से मुक्त बने। उपशम के अभ्यास के द्वारा, क्षमा के अभ्यास के द्वारा और सहिष्णुता के अभ्यास के द्वारा आदमी क्रोध पर नियंत्रण करे। भगवान् महावीर के जीवन प्रसंगों के साथ चंडकौशिक सर्प का भी प्रसंग आता है। चंडकौशिक सर्प पूर्वभव में संन्यासी के रूप में था। आक्रोश के कारण वह मनुष्य से सर्प बन गया। सर्प योनी में उसने अन्तिम समय में उपशम का अभ्यास किया, क्षमा धारण की और फलस्वरूप वह सर्प योनी से स्वर्ग में चला गया। इस प्रसंग से यह देखा जा सकता है कि गुस्से के कारण आदमी की गति कितनी खराब हो जाती है।

अनेक लोग ऐसे हैं, जो गुस्सा करना नहीं चाहते, किंतु वह बिना बुलाए आ जाता है। गुस्से पर नियंत्रण न होने के कारण छोटी-छोटी बात में आदमी को कई बार गुस्सा आ जाता है और दुःखी बन जाता है। जो व्यक्ति शान्त स्वभाव वाला है, उसके साथ अभद्र व्यवहार करने पर भी वह अपनी शांति को भंग नहीं करता। जो व्यक्ति गुस्से की कमजोरी से आहत है, ग्रस्त है, उसे उपशम कषाय का कुछ अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास के कुछ बिंदु इस प्रकार हैं—

- सबसे पहले मन में संकल्प करे कि मुझे गुस्से से मुक्त होना है।
- तत्पश्चात् वैसा ही प्रयास करे।
- ध्यान का अभ्यास करे।
- दीर्घश्वास का प्रयोग करे।
- ज्योतिकेन्द्र-प्रेक्षा का प्रयोग करे।
- रात्रि शयन से पूर्व यह चिन्तन करे कि मेरा स्वभाव शांत हो रहा है।
- प्रातः पुनः संकल्प करे कि आज पूरे दिन मुझे गुस्सा नहीं करना है।

- उन व्यक्तियों को याद करे जो शांत स्वभाव के लिए प्रख्यात हैं और उन जैसा बनने की भावना करे।

इस प्रकार जो व्यक्ति गुस्सा-मुक्ति के लिए संकल्प, प्रयोग और अभ्यास करता है, वह एक बड़ी कमजोरी से मुक्त हो जाता है।

गीताकार ने आगे बताया कि जो रुक्ष वचन, कठोर वचन बोलनेवाला व्यक्ति है, उसमें भी आसुरी शक्ति होती है। मधुर वचन भी बोले जा सकते हैं और कठोर वचन भी बोले जा सकते हैं। हम सरलता के साथ मीठा बोलने का अभ्यास करें। मीठा बोलने से सब लोग राजी रहते हैं। आदमी बोलने में कंजूसी क्यों करे? वह कठोर वचनों को छोड़कर मीठा बोले तो उसके पास एक प्रकार का वशीकरण मंत्र आ जाता है। वाणी में परुषता है, कठोरता है तो वह आसुरी शक्ति का प्रतीक है, उसे छोड़ना चाहिए।

गीताकार ने अंतिम बात बताई कि जिसमें अज्ञान है, उसमें आसुरी शक्ति है। ज्ञानी आदमी में दैवी शक्ति रहती है और अज्ञानी आदमी में आसुरी शक्ति रहती है। हम जैनदर्शन के संदर्भ में विचार करें तो जिसमें मिथ्यात्व है, उस व्यक्ति में आसुरी संपदा होती है। हम मिथ्यात्व को छोड़ें और दृष्टिकोण को सम्यक् बनाएं। हम अशुभयोग को छोड़ें और शुभयोग की ओर प्रयाण करें। जितना-जितना हमारा शुभयोग बढ़ेगा, हम उतने-उतने अशुभयोग के विजेता बनेंगे और दैवी संपदा की ओर आगे बढ़ेंगे।

८

सत्संगत करो

श्रीमद्भगवद्गीता में दैवी संपदा और आसुरी संपदा का विवेचन किया गया है। दोनों के लक्षण बताने के बाद श्रीकृष्ण ने कहा—

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।।१६/५।।

दैवी संपदा मुक्ति के लिए और आसुरी संपदा बांधने के लिए मानी गई है। इसलिए हे अर्जुन! तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी संपदा को लेकर उत्पन्न हुआ है।

दैवी संपदा जहां मोक्ष का हेतु बनती है, वहीं आसुरी संपदा बन्धन का हेतु बनती है। जितनी-जितनी दिव्यता है, शुभता है, आदमी मोक्ष की ओर आगे बढ़ता है। जितनी-जितनी अशुभता होती है, मनुष्य बंधन की ओर अग्रसर हो जाता है। जैन वाङ्मय के आयारो सूत्र में कहा गया—**बंधपमोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव** अर्थात् बन्धनमुक्ति तुम्हारे अपने ही भीतर है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया—

जीवाजीवा य बंधो य, पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो, संतेए तहिया नव।।२८/१४।।

जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये नौ तथ्य (तत्त्व) हैं।

नव तत्त्वों में जीव, अजीव तो हैं ही। उनके बाद जो सात तत्त्व हैं, वे साधना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें मुख्य दो हैं—बंध और मोक्ष। बंध का अपना परिवार है और मोक्ष का अपना परिवार है। पुण्य, पाप और आश्रव बंध का परिवार है। संवर और निर्जरा मोक्ष का परिवार है। हम सामान्यतया नव

तत्त्व बोलते हैं, तब बंध और मोक्ष को अन्त में बोलते हैं, परन्तु उत्तराध्ययन सूत्र में श्लोक की रचना इस प्रकार हुई है कि उसमें बंध का परिवार बंध के साथ आ गया और मोक्ष का परिवार मोक्ष के साथ आ गया। जितनी दैवी संपदा हमारे पास बढ़ेगी, हम मोक्ष की तरफ आगे बढ़ जाएंगे और जितनी आसुरी संपदा बढ़ेगी, हम संसार की ओर, बंधन की ओर आगे बढ़ जाएंगे। शुभयोग को दैवी संपदा के रूप में और अशुभयोग को आसुरी संपदा के रूप में देखा जा सकता है। जितना शुभयोग रहेगा यानी मन, वचन, काय के योग शुभ रहेंगे, उतनी निर्जरा होगी और आदमी मुक्ति की ओर अग्रसर हो जाएगा। जब अशुभयोग आ जाएगा, आदमी हिंसा, झूठ, चोरी आदि करेगा तो वह बन्धनयुक्त बन जाएगा, संसार की ओर आगे बढ़ जाएगा। दो मार्ग हैं—एक बन्धन का मार्ग और दूसरा मोक्ष का मार्ग। शुभयोग, संवर—ये मोक्ष के मार्ग हैं और अशुभयोग, पापाचरण, अशुभ अध्यवसाय—ये सब संसार और बंधन के मार्ग हैं। जैनदर्शन में नव तत्त्वों का महत्त्व माना गया है और यहां तक कहा गया कि किसी को दीक्षा देनी हो तो नव तत्त्वों को समझाने के बाद दी जाए। नव तत्त्वों को समझाए बिना, बताए बिना वैरागी को दीक्षा नहीं देनी चाहिए, क्योंकि सम्यक्त्व का एक आधार है नवतत्त्वों का सम्यक् ज्ञान। गीता की भाषा में जो दैवी संपदा है, जैनदर्शन की भाषा में उसे संवर, निर्जरा कहा जा सकता है। जैनदर्शन की भाषा में जो पापाश्रव है, वह गीता की भाषा में आसुरी संपदा का तत्त्व बन जाता है। चिन्तन करें कि दिन में, रात में हम दैवी संपदा के साथ कितने रहते हैं और आसुरी संपदा के साथ कितने रहते हैं? आदमी प्रयास करे तो आसुरी संपदावाले को दैवी संपदावाला बनाया जा सकता है और जिसमें दैवी संपदा कम है, उसकी दैवी संपदा को बढ़ाया भी जा सकता है।

भारतीय साहित्य में सत्संगत का जो महत्त्व माना गया है, उसका एक कारण यह है कि सत्संगति में रहने से दैवी संपदा बढ़ सकती है और दुर्जनों की संगत में रहने से आसुरी संपदा बढ़ सकती है। इसीलिए संतों की संगत को बड़ा महत्त्वपूर्ण माना गया है। जो तपस्वी हैं, साधक हैं, वे गंगा की धारा के समान होते हैं। उनकी संगति में रहने से ज्ञान मिलता है, गुणों का विकास हो सकता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने तो यहां तक कह दिया—

एक घड़ी, आधी घड़ी, आधी में पुनि आध।
तुलसी संगत साधु की, हरे कोटि अपराध।।

एक घड़ी साधुओं की संगत कर लो, नहीं तो आधी घड़ी भी कर लो,

इतना भी संभव न हो तो पाव घड़ी भी कर लो। साधुओं की तो पाव घड़ी की संगत भी कोटि पापों का हरण करनेवाली हो सकती है।

संस्कृत वाङ्मय में भी कहा गया—**साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः** अर्थात् साधुओं के तो दर्शनमात्र पवित्र होते हैं चूंकि साधु तीर्थ के समान होते हैं। साधु ऐसा तीर्थ है, जिसकी सच्ची भक्ति से उपासना की जाए तो वह शीघ्र फल देनेवाली सत्संगति बन जाती है। केवल संत पुरुष की ही संगति नहीं, साहित्य की भी संगति होती है। एक आदमी धार्मिक, पवित्र, आध्यात्मिक साहित्य पढ़ता है और एक आदमी अश्लील साहित्य पढ़ता है। यह साहित्य भी संगति का काम करता है। जो अपवित्र साहित्य पढ़नेवाला व्यक्ति है, उसमें अपवित्र विचार आ सकते हैं, आसुरी शक्ति बढ़ने की संभावना रहती है। जो पवित्र विचारों को पढ़नेवाला व्यक्ति है, उसमें दैवी संपदा का विकास होने की संभावना रहती है। साधु-संगति और साहित्य-संगति के बाद मीडिया की भी संगति हो सकती है। सिनेमा आदि के जो बुरे चलचित्र हैं, उनसे बुरे संस्कार पैदा हो सकते हैं और अच्छे चित्रों को, अच्छे दृश्यों को देखने से अच्छे संस्कार पैदा हो सकते हैं। घर में, दुकान में दीवार आदि पर यदि अच्छे चित्र हैं, महापुरुषों के चित्र हैं तो उनको बार-बार देखने से अच्छे संस्कार दिमाग में प्रवेश कर सकते हैं और बार-बार खराब चित्रों को देखेंगे तो खराब संस्कार दिमाग में जा सकते हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि चित्र से भी चरित्र का निर्माण होता है। अच्छे चित्रों से सद्चरित्र का निर्माण और बुरे चित्रों से दुश्चरित्र का निर्माण हो सकता है। दसवेआलियं में साधु के लिए कहा गया—**चित्तभित्तिं न निज्झाए** अर्थात् स्त्रियों के चित्रों से चित्रित भित्ति को टकटकी लगाकर न देखे। एक ब्रह्मचारी साधु को ऐसी चित्रभित्ति को नहीं देखना चाहिए, जिसमें स्त्रियों के चित्र हों, क्योंकि ऐसे चित्रों को देखने से मन में काम-राग पैदा हो सकता है। आदमी को अच्छे चित्र देखने चाहिए, अच्छा साहित्य पढ़ना चाहिए और अच्छी संगति करनी चाहिए।

एक बार पांचों पाण्डव श्रीकृष्ण के पास आए और बोले—महाराज! हमने युद्ध किया था, उसमें बहुत पाप हो गया। उस पाप को साफ करने के लिए एक बार हम तीर्थयात्रा करना चाहते हैं।

श्रीकृष्ण—पाण्डवो! तुम अच्छी तरह तीर्थयात्रा करो। जब तुम तीर्थयात्रा पर जा ही रहे हो तो एक काम मेरा भी कर देना।

पाण्डव—फरमाइए महाराज! आपका काम तो पहले करेंगे।

श्रीकृष्ण—पाण्डवो! मेरे पास एक तुंबी है। उस तुम्बी को तुम अपने साथ ले जाओ। तुम जहां-जहां स्नान करो, उस तुम्बी को भी स्नान करा देना।

पाण्डव—ठीक है महाराज।

पाण्डव तुम्बी को लेकर जगह-जगह गए। जहां उन्होंने एक बार स्नान किया, वहां तुम्बी को दो बार डुबकी लगवाई।

यात्रा पूरी करके पाण्डव श्रीकृष्ण के पास आए और बोले—महाराज! आपकी कृपा से हमारी यात्रा सानन्द संपन्न हो गई।

श्रीकृष्ण—पाण्डवो! वह मेरी तुम्बी कहां है?

पाण्डव—महाराज! यह आपकी तुम्बी संभालिए।

श्रीकृष्ण ने तुम्बी को थोड़ा-सा काटा और उसका एक छोटा-सा टुकड़ा मुंह में रखा। वह बहुत कड़वी थी।

श्रीकृष्ण—पाण्डवो! क्या तुमने तुम्बी को स्नान नहीं करवाया?

पाण्डव—महाराज! ऐसे कैसे हो सकता है? हमने जहां एक बार स्नान किया, इसको दो बार स्नान कराया था।

श्रीकृष्ण—पाण्डवो! तुमने इतनी बार इसको स्नान करवा दिया, फिर भी यह कड़वी कैसे रह गई?

पाण्डव—महाराज! पानी में स्नान कराने से तुम्बी के अन्दर की कटुता कैसे मिटेगी?

श्रीकृष्ण—अच्छा, यह बात है क्या? पाण्डवो! तुम लोगों ने इतना स्नान किया है। तुम्हारे शरीर का मैल तो साफ हो गया, पर तुम्हारे मन का मैल साफ कैसे होगा?

पाण्डव—महाराज! आपने यह बात अब बताई है। अगर यात्रा से पहले बता देते तो हम यात्रा करने के लिए जाते ही नहीं।

श्रीकृष्ण—भाई! पहले बता देता तो बात तुम्हारे समझ में नहीं आती। मैंने तुम्बी साथ में देकर बात तुम्हारे दिल में बिठा दी है।

पाण्डव—महाराज! ऐसा कौनसा उपाय है, जिससे हमारा पाप साफ हो जाए?

श्रीकृष्ण ने श्लोक के माध्यम से कहा—

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णाः सत्यक्षमाशीलतटा दयोर्मिः।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डपुत्र!, न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा।।

पाण्डुपुत्रो! पाप को साफ करने के लिए नदी में स्नान करना होगा। वह आत्मा नाम की नदी है। जिसमें संयमरूपी पानी है। सत्य, क्षमा और शील जिसके तट हैं। दया जिसकी लहरें हैं। ऐसी नदी में स्नान करने से तुम्हारी अंतरात्मा शुद्ध हो जाएगी।

आदमी इस संयमरूपी नदी में स्नान करे, जीवन में संयम को अपनाए, शील को अपनाए और दया की भावना रखे तो वह पापाचार पर विजय प्राप्त कर सकता है। जिससे उसकी दैवी संपदा पुष्ट हो जाएगी और वह मोक्ष का वरण कर सकेगा।

९

आत्मविजयी बनो

जिन मनुष्यों में आसुरी संपदा विकसित हो जाती है, उनका आचरण किस प्रकार का होता है? इस संदर्भ में श्रीमद्भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय में बताया गया है—

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्।।१६/१२।।

लालसाओं के सैकड़ों पाशों में बंधे हुए, वासना और क्रोध के वश में होकर वे अपनी इच्छाओं की तृप्ति के लिए अन्यायपूर्ण उपायों द्वारा धन आदि पदार्थों का संग्रह करने के लिए प्रयत्न करते हैं।

जीवन को समाप्त करने के लिए जहां एक पाश भी पर्याप्त है, वहां आसुरी संपदावाले मनुष्य तो सैकड़ों पाशों से बद्ध हो जाते हैं। वे काम और क्रोध में तत्पर रहनेवाले होते हैं, काम-भोगों की इच्छा रखनेवाले होते हैं, पदार्थों का खूब भोग करना चाहते हैं। इसके लिए पैसों की जरूरत रहती है, क्योंकि पैसे से बहुत सारे काम होते हैं। मुझे कोई पूछे कि भौतिक दुनिया का ईश्वर कौन है? एक दृष्टि से मैं कहना चाहूंगा कि पैसा है, क्योंकि आदमी की मूलभूत आवश्यकताएं रोटी, कपड़ा, मकान और चिकित्सा आदि की प्राप्ति पैसे से ही संभव है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

ऐ पैसे तुम ईश्वर तो नहीं।
पर ईश्वर की कसम, ईश्वर से कम भी नहीं।।

गीताकार ने कहा कि वे आसुरी संपदावाले लोग हैं, जो कामभोगों के लिए अन्याय के द्वारा अर्थ-संचय करते हैं। समाज में बड़ा दिखने की भावना या अपना स्टैण्डर्ड कायम रखने की भावना आदि अनेक ऐसे कारण हो सकते हैं,

जिनसे अभिप्रेरित होकर आदमी अन्याय से अर्थ का संचय करता है। चूंकि वह आशा के पाश से बद्ध होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया—

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं।।८।१७।।

जैसे लाभ होता है वैसे ही लोभ होता है। लाभ से लोभ बढ़ता है। दो माशे सोने से पूरा होनेवाला कार्य करोड़ से भी पूरा नहीं हुआ।

ब्राह्मण कपिल राजपुरोहित काश्यप का बेटा था। उसकी मां का नाम था यशा। एक दिन उसने देखा कि घर के सामने से एक आदमी घोड़े पर बैठकर छत्र धारण किए हुए जा रहा है। उसको देखते ही मां की आंखों में आंसू आ गए। लड़का समझदार था।

लड़का—मां! क्या बात है, तुम्हारी आंखों में आंसू कैसे?

मां—बेटा! एक समय था, जब तुम्हारे पिता भी इसी तरह घोड़े पर बैठकर छत्र धारण करके जाया करते थे। अचानक उनका देहावसान हो गया। उस समय तुम बच्चे थे, पढ़े-लिखे नहीं थे, इसलिए राजा ने राजपुरोहित का पद इस ब्राह्मण को दे दिया।

लड़के ने मां की मनोव्यथा समझी और कहा—मां! मुझे आशीर्वाद दो। मैं अच्छी शिक्षा प्राप्त करूं।

मां—बेटा! यहां तुम्हे कौन पढ़ाएगा? यहां के जो ब्राह्मण हैं, वे तुम्हारे पिता से ईर्ष्या रखते थे।

लड़का—मां! और कहीं कोई व्यवस्था हो सके तो बताओ।

मां—पुत्र! तुम श्रावस्ती नगरी में चले जाओ। वहां तुम्हारे पिता के मित्र इन्द्रदत्त रहते हैं। वे तुमको अध्ययन करा देंगे, ऐसा मुझे विश्वास है। लड़का श्रावस्ती पहुंच गया। वहां इन्द्रदत्त से मिला और अपना परिचय दिया। इन्द्रदत्त ने सोचा, यह मेरे परम मित्र का पुत्र है। इसे मुझे पढ़ाना चाहिए। इन्द्रदत्त ने उसके लिए भोजन की व्यवस्था शालिभद्र नामक धनाढ्य वणिक् के घर कर दी और अध्यापन का क्रम प्रारम्भ कर दिया। सेठ के घर एक दासी-कन्या रहती थी। वह लड़के को भोजन परोसती थी। धीरे-धीरे दोनों का सम्पर्क बढ़ गया। निमित्त भी आदमी के मन को विकृत करने में सहायक बन सकते हैं। हमारे साधु-साध्वियों और समणश्रेणी के लिए तो मर्यादा है कि कोई भी साधु अकेली

साध्वी या अकेली महिला से बात न करे। कोई भी साध्वी अकेले साधु या पुरुष से बात न करे। कपिल को ऐसा निमित्त मिला, अकेली लड़की के साथ बार-बार सम्पर्क हुआ, दोनों में प्रगाढ़ प्रेम का संबंध हो गया और एक समय आया कि मर्यादा का अतिक्रमण भी हो गया।

एक दिन दासी-पुत्री ने कहा—अब दासी-महोत्सव का प्रसंग सामने आ रहा है। मेरे पास फूटी कौड़ी भी नहीं है। मैं कैसे महोत्सव मनाऊं?

कपिल—पैसा तो मेरे पास भी नहीं है। मैं कहां से लाऊं?

दासी-पुत्री—यहां एक धन नाम का सेठ रहता है। जो व्यक्ति प्रातःकाल उसे सबसे पहले बधाई देता है, उसे वह दो माशा सोना देता है। आप सबसे पहले पहुंच जाओ तो दो माशा सोना मिल जाएगा।

कपिल के बात जच गई। वह रात्रि में सोया, किन्तु दिमाग में वही बात थी कि मेरे से पहले कोई दूसरा वहां न पहुंच जाए। मुझे सबसे पहले पहुंचना है। वह रात को ही चल पड़ा। मार्ग में दौड़ता जा रहा था। आरक्षक लोगों ने सोचा, यह कोई चोर है, तभी रात्रि में दौड़ता जा रहा है। आरक्षकों ने उसे चोर मानकर गिरफ्तार कर लिया और सुबह राजा प्रसेनजित के सामने प्रस्तुत किया। राजा ने कपिल को ध्यान से देखा तो लगा कि यह चोर तो नहीं होना चाहिए। यह तो कोई भला लड़का लगता है। चोर की तो आंखें ही बोल जाती हैं। राजा बड़ा अनुभवी था, वर्षों से शासन-प्रशासन कर रहा था। राजा ने एकान्त में कपिल से पूछा—रात्रि में अकेले क्यों दौड़ रहे थे? कपिल ने सारा वृत्तान्त राजा को सुना दिया। राजा उसकी स्पष्टवादिता से बहुत प्रसन्न हुआ और कहा—तुम जितना चाहो उतना मेरे से मांग लो, मैं तुम्हें दूंगा।

कपिल ने कहा—राजन्! मुझे सोचने के लिए समय दिया जाए।

राजा—जैसी तुम्हारी इच्छा।

कपिल राजा की अनुमति लेकर अशोक वनिका में चला गया। वहां सोचने लगा—जब राजाजी ने 'जो चाहो वह मांग लो' कह दिया, फिर दो माशा ही क्यों मांगूं? क्यों न मैं सौ मोहरें मांग लूं? चिन्तन आगे बढ़ा। उसे सौ मोहरें भी कम लगने लगीं। हजार, लाख, करोड़ मोहरें मांगने तक उसने सोच लिया, परन्तु मन नहीं भरा। उसका मन आंदोलित हो उठा। क्या इस लालसा का कहीं अन्त आएगा? बस विचार बदला, दिशा भी बदल गई। कपिल को जातिस्मृति ज्ञान हो गया। आशा छूटी, विरक्ति का भाव जागा और कपिल वहीं साधु बन

गया। जब कपिल आसुरी संपदा से आविष्ट हो गया, तब आशा के पाश में बंध गया और जब दैवी संपदा का भाव बढ़ा, तब आशा, लालसा सब समाप्त हो गई, विरक्ति का भाव जाग गया।

आदमी यह प्रयास करे कि आसुरी संपदा का विकास न हो। अगर कुछ अंशों में आसुरी संपदा है तो उसे निवारित करने का यथासंभव प्रयास करे और अपने भीतर दैवी संपदा को पुष्ट करने का प्रयत्न करे। दैवी संपदा पुष्ट होगी तो शान्ति मिलेगी और आत्मा भी निर्मल बनेगी। इससे वर्तमान जीवन भी अच्छा होगा और आगामी जन्म भी अच्छा होने की संभावना बनेगी। कुछ मन को साधने की अपेक्षा है, मन को जीतने की अपेक्षा है। मन के जीते जीत है, मन के हारे हार। अगर हमने मन को जीत लिया तो हमारी जीत हो गई और अगर हम मन से हार गए तो हमारी हार हो गई। हम दूसरों की अपेक्षा अपने आपको जीतने का प्रयास करें। आत्मविजेता व्यक्ति ही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

१०

कषायविजयी बनो

धार्मिक साहित्य में लोक के बारे में, स्वर्ग और नरक के बारे में विस्तार से अनेक जानकारियां प्राप्त होती हैं। आगम साहित्य में भी देवगति और नरकगति के बारे में विस्तार से बताया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः कोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।१६/२१।।

काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकार के नरक के द्वार आत्मा का नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगति में ले जानेवाले हैं। इसलिए मनुष्य को इन तीनों को त्याग देना चाहिए।

काम, क्रोध और लोभ—इन तीनों मार्गों से आदमी नरक में जा सकता है। ये तीनों आत्मा के गुणों की घात करनेवाले हैं। तीव्र काम भावना होती है, तीव्र क्रोध आता है, तीव्र लोभ होता है तो आदमी आत्मा के स्वभाव से दूर हो जाता है। जैन वाङ्मय के अनुसार काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों मोहनीय कर्म की शाखाएं हैं। एक मोह में ये सब समाविष्ट हो जाते हैं। वहां नरक में जाने के मुख्य चार कारण बताए गए हैं—महाआरम्भ, महापरिग्रह, पंचेन्द्रिय-वध और मांसाहार। मुख्यतया तीव्र हिंसा और तीव्र आसक्ति नरक में जाने का हेतु बनता है। राजा श्रेणिक नरक में उत्पन्न हुआ, उसका भी कारण हिंसा और आसक्ति है। यद्यपि राजा श्रेणिक भगवान् महावीर का भक्त था, पर हिंसा और आसक्ति के परिणामों में आयुष्य का बंधन हुआ, इसलिए नरकगति का आयुष्य बंध गया। वर्तमान में वह पहली नरक में है। जैनशासन की अखण्ड भक्ति के कारण उसने तीर्थंकर गोत्र का बन्ध किया। अगली चौबीसी में भगवान् ऋषभ की तरह वह भी पद्म नाम का प्रथम तीर्थंकर बनेगा।

आदमी में काम, क्रोध, लोभ की प्रगाढ़ता है तो मानना चाहिए आत्मा नरकाभिमुख हो रही है। आदमी नरक में जाने से डरता भी है। जो आदमी पहले धर्म-साधना नहीं करता, किंतु जब मृत्यु निकट आ जाती है, तब वह सोचता है—

सुया मे नरए ठाणा, असीलाणं च जा गई।
बालाणं कूरकम्माणं, पगाढा जत्थ वेयणा।।उत्त. ५/१२।।

मैंने उन नारकीय स्थानों के विषय में सुना है, जो शील रहित तथा क्रूर कर्म करनेवाले अज्ञानी मनुष्यों की अन्तिम गति है और जहां प्रगाढ़ वेदना है।

जो व्यक्ति धर्म में अभिरुचि नहीं रखता और पापप्रधान जीवन जीता है, उसे अन्त समय में पश्चात्ताप करना पड़ सकता है। मनुष्य में काम की भावना भी रहती है। सामान्यतया गृहस्थ जीवन में काम चलता है, किन्तु वहां भी काम की सीमा होनी चाहिए। भारतीय गृहस्थ जीवन की संस्कृति में विवाह-प्रणाली का क्रम है। विवाह-प्रणाली के माध्यम से काम का सीमाकरण हो जाता है। विवाह के द्वारा तीन प्रयोजन सिद्ध होते हैं। पहला प्रयोजन है, एक ऐसे व्यक्ति को जीवनसाथी के रूप में पा लेना, जो सुख-दुःख में हमेशा साथ दे सके। हर आदमी एक स्थायी जीवनसाथी को प्राप्त करने का प्रयास करता है, किन्तु वर्तमान में कुछ घटनाएं या कुछ स्थितियां ऐसी घटित होती हैं कि स्थायित्व के आगे प्रश्नचिह्न लग जाता है।

भारतीय संस्कृति में विवाह को पाणिग्रहण कहा गया यानी जिसका हाथ पकड़ लिया, उसको ताजिन्दगी निभाना होता है। किसी में कोई कमजोरी भी हो तो उसको झेलना चाहिए। विवाह का दूसरा प्रयोजन है, वंश परम्परा को आगे चलाना। भारतीय संस्कृति में यह भी एक चिन्तन रहा—**अपुत्रस्य गतिर्नास्ति** अर्थात् जिसके पुत्र नहीं होता, उसकी गति नहीं होती है। इस बात में एक यह तथ्य दृष्टिगत होता है कि मानव सृष्टि के संचालन के लिए और अपने वंश की परम्परा को आगे बढ़ाने के लिए सन्तानोत्पत्ति की अपेक्षा होती है। बहुधा देखा जाता है कि आदमी के मन में सन्तान-उत्पत्ति की कामना रहती है। जिनके संतान पैदा नहीं होती है, वे लोग कहां-कहां जाकर प्रयास करते हैं कि हमारे संतान हो जाए।

आनन्दघनजी जैन परम्परा के साधक थे। उनके पास भी एक राजा आया और बोला—महाराज! आप साधक लोग हैं। मुझे ऐसा वरदान दो, जिससे मेरे

पुत्र हो जाए। आनन्दघनजी ने कुछ लिखकर एक ताबीज बनाया और कहा—राजन्! यह ताबीज अपनी महारानी के हाथ में बांध देना। राजा ने वैसा ही किया। कुछ समय बाद राजा के पुत्र हो गया। राजा साधक आनन्दघनजी के पास आया और निवेदन किया—महाराज! आपकी कृपा से मुझे पुत्र मिल गया।

आनन्दघनजी—मैंने कौनसी कृपा की?

राजा—आपने जो ताबीज दिया था, उसी के प्रताप से मेरे पुत्र हुआ है।

आनन्दघनजी—राजन्! वह ताबीज लाओ। देखो, उसमें क्या लिखा है? ताबीज को खोला गया। उसमें एक कागज में लिखा हुआ था—महारानी के पुत्र हो तो आनन्दघन को क्या, पुत्र न हो तो आनन्दघन को क्या?

विवाह का तीसरा प्रयोजन है कि एक सीमा में कामेच्छा को पूरा किया जा सके यानी न तो उच्छृंखलता आए और कामेच्छा पूरी भी हो जाए। इन तीन उद्देश्यों के संदर्भ में विवाह-प्रणाली का अवलोकन किया जा सकता है। तीव्र भोगासक्ति श्रावक के लिए त्याज्य होती है। वह आत्मा को विशेष पतन की ओर ले जानेवाली बन सकती है। इसलिए गीताकार ने कहा कि काम नरक का एक द्वार बनता है। कई बार यह सुनने में आता है कि युवक लड़की का अपहरण कर लेते हैं। उसके साथ व्यभिचार करते हैं और उसकी हत्या कर देते हैं। एक कामेच्छा की पूर्ति के लिए अपहरण करना, व्यभिचार करना, फिर उसकी हत्या करना यानी कितने पाप साथ में जुड़ जाते हैं। इस संदर्भ में गीता की वाणी बहुत सत्य लगती है कि काम भावना भी नरक का द्वार बनती है। नरक का दूसरा द्वार है—क्रोध। जब तीव्र क्रोध आता है तब आदमी कुछ भी बोल देता है, कुछ भी कर लेता है, किसी पर हाथ उठा लेता है, हत्या कर देता है। यह भयंकर क्रोध नरक में ले जानेवाला बन सकता है। आदमी प्रयास करे कि विवेक का लोप करनेवाला गुस्सा नहीं करे। कड़ाई तो फिर भी कभी आदमी को प्रशासन में करनी पड़ सकती है, परन्तु कम से कम भावों में आवेश नहीं आना चाहिए। एक शांतभाववाला आदमी कितना अच्छा लगता है। बारहवें तीर्थंकर भगवान् वासुपूज्य की स्तुति में जयाचार्य लिखते हैं—**इन्द्र थकी अधिका ओपै, करूणागर कदेय नहीं कोपै** अर्थात् वे इन्द्र से भी ज्यादा अच्छे लगते थे। वे करूणा के सागर थे। वे कभी गुस्सा नहीं करते थे। जो गुस्सा नहीं करता, वह आदमी अच्छा लगता है। तीसरा द्वार है—लोभ। लोभ सब कुछ नाश करनेवाला होता है। जब लोभ होता है तब न प्रेम रहता है, न विनय रहता है, न मित्रता

रहती है। लोभ ऐसा बीच में आ जाता है कि मित्रता शत्रुता में परिणत हो जाती है। अपेक्षाओं की पूर्ति करने की भावना तो सामान्य बात है, पर पैसा अर्जित करना ही जीवन का प्रमुख ध्येय बन जाता है, यह ठीक नहीं है। आदमी के जीवन में लोभ का संयम हो, आसक्ति का संयम हो, काम और क्रोध का भी संयम हो तो कल्याण हो सकेगा।

११

आहार कैसा हो ?

हमारे जीवन का एक बड़ा आधार है आहार। जीवन को टिकाने के लिए हर व्यक्ति आहार करता है। व्यक्ति ही नहीं, प्राणीमात्र आहार करता है। पानी भोजन से भी ज्यादा आवश्यक है। हवा उससे भी ज्यादा आवश्यक है। भोजन के बिना तो फिर भी आदमी कुछ दिन रह सकता है। कई व्यक्ति तपस्या करते हैं। एक महीना, दो महीना या उससे भी कुछ ज्यादा समय वे बिना भोजन के रह जाते हैं, परन्तु पानी के बिना लम्बे समय तक रहना बड़ा मुश्किल होता है। फिर भी कुछ लोग बिना पानी भी कुछ दिन रह जाते हैं, पर श्वास तो लेना पड़ता है। कुछ लोग कुम्भक आदि का प्रयोग कुछ समय के लिए कर सकते हैं, किन्तु आखिर श्वास तो लेना ही पड़ता है। यह सामान्य-सा नियम है। हवा, पानी और भोजन हमारे जीवन की अनिवार्य अपेक्षाएं हैं। आदमी को आहार कैसा करना चाहिए, कब करना चाहिए, किस तरह करना चाहिए? इसके कुछ नियम हैं। उन नियमों के अनुसार आदमी चले तो उसका चित्त प्रसन्न रह सकता है और स्वास्थ्य भी अच्छा रह सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता में बताया गया है कि कुछ मनुष्य सात्त्विक स्वभाव के होते हैं, कुछ राजस स्वभाव के होते हैं और कुछ तामसिक स्वभाव के होते हैं। जो सात्त्विक वृत्तिवाले लोग हैं, उनका आहार कैसा होना चाहिए? इस संदर्भ में गीता में कहा गया—

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।।१७/८।।

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करने के पदार्थ सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं।

आहार ऐसा होना चाहिए जो हमारे आयुष्य को बढ़ानेवाला हो। ऐसा आहार आदमी न करे जो जल्दी मौत को बुलानेवाला हो। जैन वाङ्मय में आयुष्य के दो प्रकार बताए गए हैं—सोपक्रम और निरुपक्रम। सीधी भाषा में पूर्ण आयुष्य और अकाल मृत्यु। जिसका आयुष्य तो लम्बा होता है, परन्तु असावधानी के कारण अथवा कुछ घटना विशेष के कारण आदमी जल्दी चला जाता है, उसे अकाल मृत्यु कहा गया है। खाने में असंयम से भी अकाल मृत्यु हो सकती है। एक लड़का बहुत विनीत था। उसका पिता वृद्ध था। एक दिन वह बीमार हो गया। उसने लड़के को अन्तिम शिक्षा देते हुए कहा—बेटा! स्वास्थ्य का ध्यान रखना और हमेशा मीठा खाना। थोड़ी देर बाद पिता की मृत्यु हो गई। पुत्र ने पिता की अन्तिम सीख को ध्यान में रखते हुए दिन में तीनों समय मिठाइयां खानी शुरू कर दी। दो-चार दिनों में ही उसका स्वास्थ्य गड़बड़ा गया। एक दिन उसके चाचा ने पूछा—वत्स! क्या बात है? इतने कमजोर कैसे हो गए? क्या पिताजी की मृत्यु से तुमको इतना सदमा लगा है?

भतीजा— चाचाजी! सदमे जैसे कोई खास बात नहीं है।

फिर पता चला कि यह तो रोज मिठाइयां खाता है।

चाचा—बेटा! तुम रोज मिठाइयां क्यों खाते हो?

भतीजा—चाचाजी! पिताजी ने मुझे अन्तिम शिक्षा दी थी कि स्वास्थ्य का ध्यान रखना और रोज मीठा खाना। मैं पिताजी की आज्ञा का पालन करते हुए प्रतिदिन तीनों समय मिठाइयां खाता हूं।

चाचा ने सोचा, लड़का विनीत तो है, परन्तु पिता के कथन के मर्म को पकड़ नहीं पाया।

चाचा—बेटा! तुम दो सप्ताह मेरे घर रहो, मैं तुम्हें स्वस्थ कर दूंगा। भतीजा चाचा के घर चला गया। चाचा ने उसका सारा भोजन बन्द कर दिया। प्राकृतिक चिकित्सा की। फिर धीर-धीरे थोड़ा अन्न देना शुरू किया। दस दिनों के बाद उसको बाजरी की रोटी दी। भतीजे ने बाजरी की रोटी खाई।

चाचा—वत्स! रोटी कैसी लगी?

भतीजा—चाचाजी! बहुत मीठी लगी।

चाचा—तुम्हारे पिता ने यही कहा था कि मीठा खाना अर्थात् पूरी भूख

लगने पर खाना। पूरी भूख लगने पर एक रोटी भी कितनी मीठी लगती है। बिना भूख के खाना मीठा खाना नहीं होता। हमें एक शिक्षा दी गई थी कि मन में यह प्रश्न हो कि खाऊं या न खाऊं तो मत खाओ। मन में यह प्रश्न हो कि शौच के लिए जाऊं या नहीं तो अवश्य जाओ। गीताकार ने कहा कि सात्त्विक भोजन वह होता है जो हमारे आयुष्य को बढ़ानेवाला हो यानी अकाल मृत्यु से बचानेवाला हो और स्वास्थ्यवर्धक हो। जिस भोजन को खाने से आदमी में प्रीति का भाव पैदा हो, मन में संतोष हो, ऐसा भोजन गीता के अनुसार करणीय होता है। गीताकार ने यह भी बताया कि जो भोजन रुचिकर हो, रसदार हो, स्निग्ध हो और पाचक हो, वैसा करना चाहिए। आहार में मात्रा का भी ध्यान रखना चाहिए। सात्त्विक आहार भी अतिमात्रा में कर लिया जाए तो वह भी नुकसानदेय बन सकता है। उत्तराध्ययन सूत्र के बत्तीसवें अध्ययन में कहा गया— **आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं** अर्थात् श्रमण परिमित और एषणीय आहार की इच्छा करे।

साधक खाद्य आहार करे, अखाद्य आहार को स्वीकार न करे। खाने योग्य आहार की भी मात्रा का अतिरेक नहीं करना चाहिए। मात्रा का अतिरेक हमारी साधना में बाधा पैदा करता है। जो साधक अतिमात्रा में आहार करता है, उसका ध्यान, स्वाध्याय आदि में मन कम लगता है। इसलिए परिमित आहार होना चाहिए। भोजन अगर सात्त्विक है, सीमित है तो आदमी का शरीर भी अच्छा रहता है और मन भी प्रसन्न रहता है। जिस भोजन में तले हुए पदार्थ ज्यादा हैं, मिठाइयां हैं, वह भोजन स्वास्थ्य के लिए कठिनाई पैदा करनेवाला भी बन सकता है। इसलिए आदमी अपने शरीर की प्रकृति पर ध्यान दे और उसके अनुसार अपने भोजन का निर्धारण करे। यद्यपि गाय का दूध पौष्टिक और सात्त्विक माना जाता है, परन्तु जिस आदमी को दस्तें लग रही हैं, वह दूध पीता है तो नुकसानदेय भी हो सकता है, इसलिए अपने शरीर पर ध्यान देकर भोजन का निर्णय करना चाहिए कि मेरे लिए कौनसा भोजन ठीक रहेगा। गीताकार ने आहार का विवेक दिया है। हम उस आहार-विवेक को समझें। इस प्रकार का भोजन करें जो आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य आदि को बढ़ानेवाला हो।

मनुष्यों में विभिन्न वृत्तियां होती हैं। सात्त्विक वृत्तिवाले पुरुष मिलते हैं तो राजसिक और तामसिक वृत्तिवाले व्यक्ति भी मिल सकते हैं। सज्जन व्यक्ति मिलते हैं तो दुर्जन भी मिल सकते हैं। अपेक्षा इस बात की है कि दुर्जन लोगों को उपदेश देकर, समझाकर, कोई प्रयोग आदि करवाकर सज्जन बनाने का

प्रयास करना चाहिए। अनेक संत-महात्मा अपने उपदेशों के माध्यम से, धर्मकथाओं के माध्यम से ऐसा प्रयास करते हैं कि आदमी सात्त्विक वृत्तिवाला बन जाए, उसका गुणात्मक विकास हो जाए। लोगों में साधु-महात्माओं के प्रति कुछ आस्था का भाव देखने को मिलता है। उस आस्था के आधार पर वे संतों की बात को सम्मान देते हैं। वे हर बात ग्रहण न भी कर सकें, फिर भी उनकी बात सुनते हैं। जब बार-बार सुनते हैं तो कोई बात दिमाग में बैठ जाती है। एक संत बोलता है और हजारों लोग सुनते हैं। उन हजारों में से दो व्यक्ति भी सन्मार्ग पर चलने को तैयार हो जाते हैं तो बोलना कुछ सार्थक हो जाता है। यद्यपि सन्त बिना किसी आकांक्षा के और बिना किसी प्रतिफल की भावना के, मात्र कर्म-निर्जरा के लिए और जन-कल्याण के लिए कार्य करते हैं। धर्मोपदेश का मुख्य उद्देश्य है। श्रोताओं के अज्ञान को दूर करना, उनमें ज्ञान-चेतना को जागृत करना, उनके बोध को बढ़ाना और उनकी वृत्तियों का परिष्कार कर उन्हें सात्त्विक वृत्तिवाला बनाना।

राजसिक वृत्तिवाले व्यक्ति को कैसा आहार प्रिय होता है। इस संदर्भ में श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है–

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ।।१७/९।।

कड़वे, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम, तीखे, रूखे, जलन उत्पन्न करनेवाले, दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करने के पदार्थ राजसिक लोगों को पसंद होते हैं।

राजस वृत्तिवाले व्यक्ति को कड़वा, नमकीन और खट्टा भोजन अच्छा लगता है। उसे गरम चीजें पसंद होती हैं और रूक्ष व तीखे पदार्थ खाने में बढ़िया लगते हैं। ऐसा आहार बाद में दुःख पैदा करनेवाला होता है, शोक पैदा करनेवाला होता है और बीमारियों को बुलानेवाला होता है। भोजन के साथ आदमी की वृत्तियां भी कुछ वैसी बन सकती हैं, क्योंकि भोजन के साथ हमारे व्यवहार का संबंध माना गया है। हम भोजन पर ध्यान दें, जीभ को स्वाद आना एक बात है और शरीर व मन के लिए उपयोगी होना अलग बात है। जीभ को स्वाद बहुत कम समय के लिए आता है। जैसा कि राजस्थानी भाषा में कहा गया–**उतर्‌यो घाटी, हुयो माटी** अर्थात् भोजन को एक बार हमने खा लिया, वह गले से नीचे उतर गया, फिर उसका स्वाद नहीं आता। कभी-कभी थोड़ी देर

का स्वाद बाद में कितनी समस्या पैदा करनेवाला बन सकता है। आदमी यह सोचे कि मेरा भोजन संयम को पुष्ट करनेवाला और स्वास्थ्य को अच्छा रखनेवाला हो। मैं जिह्वा पर ज्यादा ध्यान न देकर पेट, शरीर और अपनी वृत्तियों पर ज्यादा ध्यान दूं। ज्ञान की आराधना करनेवाला आदमी अगर खाने में ही मन को लगाए रखता है तो ज्ञान की आराधना में कठिनाई पैदा हो सकती है। ज्ञानार्जन करना है तो खान-पान को गौण करना होगा और ज्ञान-अर्जन करने में रस लेना होगा, तभी ज्ञान को पुष्ट होने का मौका मिलेगा।

सज्जन आदमी के लिए सात्त्विक भोजन ग्राह्य होता है, इसलिए आदमी राजसिक भोजन का परिष्कार करे।

सात्त्विक और राजस व्यक्तियों के इष्ट भोजन का उल्लेख करने के बाद गीताकार तामस प्राणी के प्रिय भोजन का उल्लेख करते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं—

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।१७/१०।।

जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामसिक लोगों को प्रिय होता है।

एक प्रसंग मिलता है। आयुर्वेद के महान् आचार्य संभवतः वाग्भट्ट एक कौवे का रूप बनाकर पेड़ पर बैठे और एक प्रश्न किया—कोऽरुक्, कोऽरुक्, कोऽरुक् अर्थात् स्वस्थ कौन होता है? स्वस्थ कौन होता है? स्वस्थ कौन होता है? किसी ने कहा—सर्दी में च्यवनप्राश का सेवन करनेवाला स्वस्थ होता है। किसी ने कहा—ब्रह्मरसायन का सेवन करनेवाला स्वस्थ होता है। किसी ने कहा—त्रिफला यानी हरड़, बहेड़ा और आंवले का घी और शक्कर के साथ सेवन करने से आदमी स्वस्थ और शक्तिशाली होता है। त्रिफला के महत्त्व को बताते हुए कहा गया है—

हरड़, बहेड़ा, आंवला, घी-शक्कर में खाय।
हाथी घालै खाख में, साठ कोस ले जाय।।

मैं जब छोटा था, एक स्थविर मुनि के पास रहता था। उन्होंने मुझे कहा—तुम घी-शक्कर में त्रिफला लिया करो। संभवतः कई दिनों तक मुझे घी और शक्कर के साथ त्रिफला का सेवन कराया गया।

कौवे को अनेक जवाब मिले, किन्तु वह संतुष्ट नहीं हुआ। अन्त में उसने

स्वयं ही जवाब दिया—हितभुक्, मितभुक्, ऋतभुक्। हितकर खानेवाला, मित खानेवाला और ऋत अर्थात् प्रामाणिकता से प्राप्त किए गए पैसे से खानेवाला व्यक्ति स्वस्थ होता है। स्वस्थ का मतलब केवल शरीर से ही अरोग होना नहीं है। मन भी स्वस्थ होना चाहिए, तन भी स्वस्थ होना चाहिए और भाव भी शुद्ध होने चाहिए, तब पूर्ण स्वस्थता होती है।

आयुर्वेद के अनुसार वात, पित्त और कफ—ये तीनों जिसके असंतुलित हों, वह व्यक्ति स्वस्थ नहीं हो सकता। वहां इनका शमन करने के लिए उपाय भी बताए गए हैं। संस्कृत साहित्य में कहा गया—

श्लेष्माणमासु विनिहन्ति सदार्द्रकेण, पितं विहन्ति च तदैव हरीतकीभिः।
सुंठ्यासमं हरति वातमशेषमित्थं दोषत्रयक्षय कराय नमो गुडाय।।

उस गुड़ को नमस्कार, जो तीनों दोषों का शमन करनेवाला है। अदरक के साथ गुड़ का सेवन किया जाए तो कफ का शमन करनेवाला होता है। हरड़ के साथ गुड़ का सेवन किया जाए तो पित्त का शमन करनेवाला और सूंठ के साथ गुड़ का सेवन किया जाए तो वात का शमन करनेवाला होता है। गुड़ का दूसरा अर्थ है गुरु। ऐसे गुरु को नमस्कार, जो शिष्य के दोषों का नाश करनेवाला है। शिष्य में काम का दोष, क्रोध का दोष, लोभ आदि का दोष होता है। इन दोषों का शमन करने के लिए गुरु कभी अदरक के रूप में, कभी हरड़ के रूप में और कभी सौंठ के रूप में यानी कभी कड़ाई से, कभी अनुशासन करके, कभी स्नेह से शिक्षा देकर शिष्य के इन तीनों दोषों का शमन करने का प्रयास करता है।

जिसकी आत्मा विकारों से रहित है, वह आत्मा प्रसन्न होती है। जिसके मन में कुण्ठा नहीं, चिन्ता नहीं, तनाव नहीं, उसका मन प्रसन्न होता है, स्वस्थ होता है। प्रसन्नता जिसके साथ है, वह व्यक्ति स्वस्थ हो सकता है। स्वास्थ्य के जो विधान हैं, उनमें भोजन की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। ज्ञातव्य यह है कि आदमी स्वास्थ्य के अनुकूल आहार लेता है या स्वास्थ्य के प्रतिकूल भी खाता है। अगर आदमी खाने से पहले यह सोच ले कि मुझे जीभ के लिए नहीं, शरीर के लिए, काम करने के लिए, साधना करने के लिए खाना है, इसलिए कौनसा भोजन मेरे स्वास्थ्य के अनुकूल रहेगा। व्यक्ति अपनी अनुकूलता को ध्यान में रखते हुए भोजन का चुनाव करता है तो वह आहार, स्वास्थ्यकर हो सकता है। आदमी को भोजन का विवेक रखना चाहिए। हल्का आहार करना चाहिए ताकि

शरीर भी ठीक रह सके और मन व आत्मा भी ठीक रह सके। हम ऐसे भोजन से बचें, जो तामसिकता को बढ़ावा देनेवाला हो। आदमी के लिए वह आहार करणीय होता है, जो सात्त्विक हो, स्वास्थ्य के लिए अच्छा और मन के लिए भी लाभदायी हो, मन को विकृत नहीं करनेवाला हो। हमारा आहार सात्त्विक है तो हमें शारीरिक स्वस्थता और मानसिक निर्मलता प्राप्त होने में सहायता मिल सकेगी।

१२

शारीर तप तपो

अध्यात्म के क्षेत्र में तप का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन वाङ्मय में मोक्ष के साधनों में तपस्या को भी स्थान दिया गया है। मोक्ष के दो साधन हैं—संवर और निर्जरा। संवर कर्म के आगमन का निरोध करता है और निर्जरा पूर्वार्जित पाप कर्मों को खपाने का काम करती है। तपस्या शारीरिक भी होती है, वाचिक भी होती है और मानसिक भी होती है। जितना तपस्या का क्रम आगे बढ़ेगा, उतना साधना में निखार आएगा। तपस्या के साथ एक विशेष बात यह होनी चाहिए कि सकाम तपस्या हो अर्थात् मोक्ष की कामना से तपस्या हो, अन्य किसी कामना से न हो। निर्जरा के सिवाय अन्य किसी उद्देश्य से तपस्या नहीं करनी चाहिए। यदि तपस्या के साथ निदान कर लिया जाता है तो वह एक प्रकार से तपस्या को बेचने का-सा काम हो जाता है। फिर उस तपस्या से मिलनेवाले आध्यात्मिक फल में कमी आ जाती है। जैसे कोई व्यक्ति यह निदान कर लेता है कि मेरी तपस्या का मुझे यह फल मिले कि मैं बड़ा राजा बन जाऊं, बलवान् शरीरवाला व्यक्ति बन जाऊं आदि। ऐसी कोई आकांक्षा हो तो तपस्या कमजोर हो जाएगी, निर्वीर्य हो जाएगी। कभी-कभी साधु-साध्वियों के मन में भी छद्मस्थतावश कोई आकांक्षा हो सकती है। आदमी सेवा करता है, वह भी तपस्या है, पर सेवा के साथ फलाकांक्षा न हो कि वापस वह मेरी सेवा करे या मुझे सेवा के बदले में कुछ पुरस्कार मिले। मेरी दृष्टि में सबसे बड़ा पुरस्कार तो निर्जरा है। निर्जरा का लाभ मिल गया, इससे बड़ा कोई पुरस्कार दुनिया में नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता में तपस्या के तीन प्रकार बताए गए हैं—शारीर तप, वाङ्मय तप और मानस तप।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।१७/१४।।

देवताओं, ब्राह्मणों, गुरुओं और विद्वानों की पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीर-संबंधी तप कहलाता है।

पूजा करना शारीरिक तपस्या है। प्रश्न हुआ कि पूजा किसकी की जाए? गीताकार ने कहा—देव की पूजा करो। वे परम देव परमात्मा हैं। परमात्मा परम निर्मल होते हैं। उनमें कोई अशुद्धि नहीं होती। भारतीय धार्मिक जगत् में नाम-स्मरण की प्रथा चलती है। मेरा विचार है कि नाम-स्मरण भी भावशुद्धि का एक अच्छा साधन है। हमारे मन में इधर-उधर के विचार आते रहते हैं, उनकी जगह भगवान् का, परमात्मा का स्मरण होता रहे तो हम अनेक अशुभ भावों से बच सकते हैं। सोने से पहले परमात्मा का स्मरण किया जाए तो उसका प्रभाव हमारे निद्राकाल में भी कुछ बना रह सकता है। उठने के बाद दूसरा विचार आए, उससे पहले परमात्मा को याद कर लिया जाए ताकि पूरा दिन अच्छा बीते। परमात्मा की भक्ति करना शारीर तप है।

गीताकार ने आगे कहा—द्विज की पूजा करो। संस्कृत शब्दकोष में द्विज का एक अर्थ है ब्राह्मण। साधुओं को भी द्विज कहा जाता है, क्योंकि उनका भी दो बार जन्म होता है। एक बार मां-बाप से जन्म मिलता है और दूसरा गुरु से धर्म का जन्म मिलता है, इसलिए साधु को भी हम अपनी भाषा में द्विजन्मा अर्थात् द्विज कहा करते हैं। गीता की व्याख्या में कहा गया कि द्वैत को जीतनेवाला यानी राग-द्वेष को जीतनेवाला द्विज होता है। देव और द्विज की पूजा के बाद गुरु की पूजा करने के लिए कहा गया। आदमी के जीवन में गुरु का बहुत ऊंचा स्थान होता है। गुरु के प्रति भक्ति का भाव रखना चाहिए। उनका विनय और सेवा करनी चाहिए। सेवा महान् धर्म है। वह परम सुखदायी और एक-दूसरे को जोड़नेवाला तत्त्व है। गीता में गुरुभक्ति के बाद ज्ञानियों की भक्ति करने का निर्देश दिया गया है। आदमी को ज्ञानियों का और जो अपने से ज्येष्ठ हैं, उनका सम्मान व विनय रखना चाहिए। ज्येष्ठ कौन होता है? ज्येष्ठ होने के तीन मानक बताए गए हैं—वय, पर्याय और प्रज्ञा।

ज्येष्ठ होने का पहला मानक है—वय। संसार में अवस्था से जो बड़ा होता है, उसको भी सम्मान्य माना जाता है। हमारी साधु-संस्था में भी अनेक साधु साथ में दीक्षित हो रहे हों तो सामान्यतया जो अवस्था में बड़ा होता है, उसी को बड़ा माना जाता है। ज्येष्ठ होने का दूसरा मानक है—पर्याय। जो चारित्र-पर्याय में बड़ा होता है, वह पूजनीय होता है। ज्येष्ठ होने का तीसरा मानक है—प्रज्ञा।

जो अधिक ज्ञानी है, वह भी पूज्य होता है। दीक्षा-पर्याय में छोटा होने पर भी जो ज्ञान देता है उसका भी किसी रूप में मान-सम्मान रखना चाहिए। देवता, राग-द्वेष को जीतनेवाले साधक, सद्गुरु और ज्ञानी—ये विनय ग्रहण करने के अधिकारी होते हैं। गुरु विशेष रूप से विनय प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं। सामान्यतया गुरु का भोजन चपाती हो सकता है, व्यंजन हो सकता है, उनके स्वास्थ्यानुकूल पदार्थ हो सकते हैं, किन्तु गुरु का एक महत्त्वपूर्ण भोजन है विनय। शिष्यों के द्वारा जो विनय मिलता है, वह गुरु के लिए पोषण का काम करनेवाला होता है। शिष्य का धर्म है गुरु को विनय अर्पित करे। वह विनय गुरु की चित्तसमाधि में सहायक बनेगा और गुरु को बड़ा आश्वासन मिलेगा। शिष्य का धर्म है कि वह गुरु के प्रति विनय का व्यवहार करे। विनय मानसिक भी होना चाहिए और व्यावहारिक भी होना चाहिए। व्यवहार में विनय झलकना भी चाहिए। हमारी परम्परा में गुरु के प्रति विनयभाव रखने के संस्कार दिए जाते हैं, जैसे—आचार्य पांव नीचे रखते हैं तो आस-पास खड़े शिष्य पांव के नीचे पहले से कंबल बिछा देते हैं। आचार्य पट्ट आदि से नीचे उतरते हैं तो शिष्य सहारा देने के लिए हाथ आगे कर देते हैं, यह विनय की परम्परा है। गुरु के प्रति अंतरंग प्रीति का, श्रद्धा का भाव रहना चाहिए।

उत्तराध्ययन सूत्र के तीसवें अध्ययन में शारीर तप को देखा जा सकता है। वहां निर्दिष्ट बारह प्रकार की तपस्या या निर्जरा के भेदों में अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रस-परित्याग, काय-क्लेश आदि शारीर तप के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

गीताकार ने शारीर तप में दूसरी बात बताई कि शुद्धि रखनी चाहिए। बाह्य शुद्धि भी कुछ आवश्यक होती है। आदमी देहचिन्ता से निवृत्त होकर आए और हाथ को पूरा साफ न करे, साबुन आदि से न धोए तो शौच नहीं होगा। यह भी एक प्रकार का शौच धर्म है कि शरीर के वह पदार्थ न लगा रहे जो पदार्थ परित्याज्य होता है, परिष्ठापनीय होता है। बाह्य शुद्धि का ध्यान रखना भी एक शिष्टता होती है। आदमी किसी से बात करे और उसके मुख से सामनेवाले व्यक्ति पर थूक उछले तो वह भी अशौच हो जाता है। शारीर तप के अंतर्गत आदमी यह ध्यान रखे कि पेट साफ रहे, अपान-शुद्धि रहे। पेट साफ तो सौ रोग माफ। एक पेट साफ है तो अनेक रोग तो आ ही नहीं पाएंगे।

गीताकार ने शारीर तप के अंतर्गत तीसरी बात बताई कि आर्जव का

अभ्यास करें। आर्जव अर्थात् ऋजुता। जैन वाङ्मय में नाम कर्म के संदर्भ में जो चार बातें बताई गईं, उनमें एक है—काय ऋजुता। शरीर से कोई ऐसा इंगित कर देना, जो गलत है, वह शरीर की कुटिलता है। जो बात जैसी है वैसी बताने का प्रयास करे। आदमी को यथार्थवादी रहने का अभ्यास करना चाहिए। यथार्थवाद पापों से बचानेवाला सिद्धांत है। इसलिए हमारे भीतर आर्जव का अभ्यास रहना चाहिए। शारीरिक तप का एक प्रकार है—ब्रह्मचर्य की साधना। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए इन्द्रियों को वश में करने का और मन पर नियंत्रण रखने का अभ्यास आवश्यक है। उसके लिए अनेक नियम बनाए गए। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए हमारे यहां साधु-साध्वियों का नियम है कि अकेला साधु अकेली बहन अथवा अकेली साध्वी से बात न करे। और तो क्या स्वयं आचार्य भी अकेली साध्वी अथवा अकेली बहन से बात नहीं करते। यह नियम निमित्तों से बचने के लिए है। निमित्त विकृति पैदा करने में सहायक बन सकते हैं, इसलिए साधु ऐसे निमित्तों से बचे, जहां वासना उत्पन्न हो सकती है। शारीर तप का अन्तिम प्रकार है—अहिंसा। साधु ईर्या समिति की साधना करता है वह भी शारीर तप है। चलते समय साधु बातें न करे और देख-देखकर चले। शरीर प्रमाण भूमि को देखकर चलना ईर्या समिति है। यह बड़ा सुन्दर विधान है।

गीताकार ने शारीर तप का सुन्दर विवेचन किया है। परमात्मा की पूजा, राग-द्वेष के विजेता की पूजा, गुरु की पूजा, विद्वान की पूजा, ज्ञान की भक्ति और शौच का अभ्यास, ऋजुता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा की साधना के द्वारा व्यक्ति परम पद की ओर अग्रसर हो सकता है।

१३

मन पवित्र रखो

धार्मिक जगत् का एक महत्त्वपूर्ण शब्द है तपस्वी। साधु का एक अभिधान बताया गया है तपोधन। तपस्या जिसका धन है, वह तपोधन कहलाता है। मुनि तपस्या करे, यह तो वांछनीय है ही, किन्तु एक गृहस्थ को भी अपने जीवन में तपस्या करनी चाहिए। जैन वाङ्मय में तपस्या के बारह भेद बताए गए हैं। वे दो भागों में विभक्त हैं—बाह्यतप और आभ्यन्तरतप। श्रीमद्भगवद्गीता में भी तपस्या के अनेक प्रकार उपलब्ध होते हैं। उनमें एक प्रकार है—मानस तप। वहां मानसिक तपस्या के पांच आयाम निर्दिष्ट किए गए हैं—

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।।१७/१६।।

मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन आत्मसंयम और मन की पवित्रता—यह मानसिक तप कहलाता है।

मानस तप का प्रथम आयाम है—मानसिक प्रसन्नता। मन में प्रसन्नता रखना भी एक तपस्या है। मानसिक तपस्या तभी संभव है, जब आदमी का मन निर्मल बनता है, निर्विकार होता है। सतत मानसिक प्रसन्नता उस आदमी के नहीं रहती, जिस आदमी के मन में कुछ विकार, भय आदि भाव पैदा होते रहते हैं। मानसिक प्रसन्नता उसे प्राप्त होती है, जो समता का अभ्यासी होता है। संस्कृत साहित्य में कहा गया है—**मनः प्रसादः समताश्रयेण** अर्थात् मन की प्रसन्नता समता का आश्रय लेने से प्राप्त होती है। प्रसन्नता को हम सामान्यतया खुशी के संदर्भ में प्रयुक्त करते हैं, किन्तु प्रसन्नता का दूसरा अर्थ किया गया है स्वच्छ होना। जिस व्यक्ति का मन स्वच्छ या निर्मल होता है, वह व्यक्ति प्रसन्न होता है। जब प्रसन्नता प्राप्त हो जाती है, तब आदमी को सुख और शांति मिलती है।

जब-जब आवेश आता है, प्रसन्नता बाधित हो जाती है। मन में ईर्ष्या का भाव आता है तो प्रसन्नता खण्डित हो जाती है। प्रसन्न रहने के लिए अपेक्षा है कि आदमी आवेश और ईर्ष्या से बचे एवं समता का अभ्यास करे।

मानस तप का दूसरा आयाम है—सौम्यता। जो व्यक्ति शांत रहता है, कभी आक्रोश नहीं करता, उसका चेहरा भी सौम्य लगता है। जो आक्रोशशील होता है, उसका सुन्दर चेहरा भी अच्छा नहीं लगता। जिसने मानसिक प्रसन्नता का अभ्यास कर लिया, इसका मतलब उसने मानस तप की साधना की है। बात-बात में गुस्सा नहीं करना, शांत रहना, किसी के द्वारा अपमानपूर्ण भाषा का प्रयोग करने पर भी गुस्सा नहीं करना, एक बात को बार-बार पूछने पर भी शांति रखना मानसिक तपस्या होती है। एक लड़का किसी महात्मा के पास गया। उसने प्रणाम किया, पूछा—बाबाजी! आपका नाम क्या है?

महात्मा—शीतलनाथ।

लड़का (पुनः)—बाबाजी! आपका नाम क्या है?

बाबाजी—मेरा नाम शीतलनाथ है।

लड़का—बाबाजी! मेरी स्मृति कुछ कमजोर है। आपका नाम क्या है?

बाबाजी—शीतलनाथ है बेटा।

जब चौथी बार लड़के ने पूछा कि बाबाजी! आपका नाम क्या है? तब बाबा को गुस्सा आ गया। हाथ में डंडा लिया और लड़के के पीछे दौड़ा। लड़का दौड़ता-दौड़ता बोला—बाबाजी! आपका नाम याद आ गया। आपका नाम है ज्वालानाथ। गुस्से के कारण शीतलनाथ ज्वालानाथ बन गए। मौके पर गुस्सा नहीं करना और सौम्य, शांत, शीतल बने रहना मानस तप है।

मानस तप का तीसरा आयाम है—मौन। न बोलना भी एक मानसिक तपस्या है। वाणी का संयम मन की शुद्धि का साधन बनता है। बोलनेवाला व्यक्ति अच्छा भी बोल सकता है और गलत भी बोल सकता है। बोलने से कुछ चंचलता बढ़ती है और मौन मन की एकाग्रता में सहायक बनता है। ध्यान-शिविर में भी मौन का निर्देश दिया जाता है ताकि ध्यान की साधना अच्छे ढंग से हो सके। सूक्ष्मता से देखा जाए तो वाणी का संयम करने पर भी स्वरयन्त्र सक्रिय रहता है। वहां भी भाषा काम करती है। वह भाषा फिर वाणी में प्रकट होती है। आदमी स्वरयन्त्र को शिथिल करने का प्रयास करे। मौन के भी अनेक प्रकार हो

सकते हैं। एक प्रकार का मौन वह है, जिसमें संकेत आदि किए जाते हैं और दूसरे प्रकार के मौन में संकेत, ईशारे आदि कुछ नहीं होते। मौन की साधना करनेवाला व्यक्ति भी मानस तप की आराधना करता है।

मानस तप का चौथा आयाम है—आत्म-निग्रह यानी आत्मानुशासन। जब आत्मा प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती, फिर उस पर अनुशासन कैसे किया जाए? आत्मा पर अनुशासन करने के लिए पहले इन्द्रियों पर शासन करना होगा। शरीर, वाणी, मन और इन्द्रियां व्यक्ति के सामने हैं। इन पर अनुशासन का अभ्यास हो जाए तो आत्मानुशासन हो जाता है।

एक युवक ने सन्त से पूछा—आप क्या साधना करते हैं?

संत—जब भूख लगती है, तब खा लेता हूं। जब प्यास लगती है, पानी पी लेता हूं। जब नींद की स्थिति बनती है, नींद ले लेता हूं।

युवक—इसमें कौनसी साधना है? खाना, पीना और सेना तो हम भी करते हैं। फिर आपमें और हमारे में कौनसा अन्तर हुआ?

सन्त—तुम्हारे में और मेरे में थोड़ा अन्तर है। मैं केवल खाता हूं, केवल पीता हूं, केवल सोता हूं। आहार करते समय न प्रियता का भाव न अप्रियता का भाव, न राग का भाव और न द्वेष का भाव रखता हूं। जैसा भोजन मिलता है, शान्तभाव से शरीर को पोषण देने की भावना से खा लेता हूं। कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। प्यास लगने पर बिना राग-द्वेष के पानी पी लेता हूं। निद्रा-सुख कोई लक्ष्य नहीं है। शरीर को विश्राम देने के लिए सोता हूं। बड़ी जागरूकता के साथ सोता हूं और सोते समय निर्विचार रहता हूं। जबकि तुम्हारे खाने-पीने में प्रियता-अप्रियता का भाव आ सकता है, प्रतिक्रिया भी हो सकती है। यदि आदमी विधिपूर्वक खाता है, पीता है और सोता है तो खाना, पीना और सोना भी एक साधना बन जाती है। इस प्रकार इन्द्रिय, मन, वाणी और शरीर पर नियंत्रण रखना आत्मानुशासन है।

मानस तप का पांचवां आयाम है—भाव-संशुद्धि। आदमी के भीतर दोनों प्रकार के भाव होते हैं। सद्भाव भी होते हैं और असद्भाव भी। विधायक भाव भी होते हैं और निषेधात्मक भाव भी। निषेधात्मक भाव आदमी को अपराध की ओर बढ़ानेवाला होता है। अपराध के पीछे भाव की प्रेरणा रहती है। अपराध तीन क्षेत्रों में हो सकते हैं—सेक्स, अर्थ और सत्ता।

सेक्स के संबंध में यदा-कदा समाचार पत्रों में ये समाचार पढ़ने को मिलते

रहते हैं कि अमुक व्यक्ति ने बलात्कार कर लिया। अमुक व्यक्ति महिला को उठाकर ले गया और सामूहिक बलात्कार किया। भारतीय साहित्य में सुन्दर निर्देश दिया गया है कि सेक्स के विषय में आदमी संयम रखे। एक गृहस्थ के लिए मध्यम मार्ग बताया गया कि वह स्वपति/स्वपत्नी में सन्तोष रखे। स्वच्छन्द भोग, अनुशासनहीनता और संयम का अभाव समाज में समस्या पैदा करता है।

अर्थ के लिए भी कितने अपराध होते हैं। अर्थ के लिए कितनी चोरी, डकैती, घोटाले, महाघोटाले होते हैं। समाज में केवल पैसा ही सब कुछ न रहे, मोरेलिटी भी रहनी चाहिए। केवल अर्थ पर ही ध्यान केन्द्रित होता है, इसका मतलब है कि आदमी पतन की ओर जा रहा है। अर्थ के क्षेत्र में जो अतिक्रमण होते हैं, उसके पीछे दो कारण हैं—लोभ और अभाव। अतिकामना के कारण आदमी अनैतिक आचरण कर लेता है। कई बार व्यक्ति को न चाहते हुए भी अभाव के कारण अनैतिकता का आश्रय लेना पड़ता है।

आदमी सत्ता के लिए भी अपराध कर लेता है। जब चुनाव का प्रसंग आता है, तब वोट पाना और सरकार बनाना ही मुख्य लक्ष्य सामने रहता है। उस समय हिंसा के प्रसंग भी घटित हो जाते हैं और वोट लेने के लिए अनैतिक तरीकों से लोगों को आकृष्ट किया जाता है। कई बार सत्ता मिलने के बाद भी अपराध होते रहते हैं। हालांकि दर्शन तो यह है कि आदमी सत्ता इसलिए स्वीकार करे कि मैं जनता की सेवा कर सकूं। लेकिन कई बार सत्ता-प्राप्ति के बाद सेवा की बात गौण हो जाती है और धन-प्राप्ति की भावना मुख्य हो जाती है।

इन सब अपराधों के मूल में एक बड़ा कारण है—भाव-अशुद्धि। यदि भाव पवित्र होते हैं और आदमी दूसरों का हित करता है, दूसरे के कष्ट को अनुभूत करता है, एक-दूसरे के साथ आत्मीयता का भाव रखता है तो व्यक्ति आनंदमय जीवन जी सकता है। भावशुद्धि एक ऐसा शस्त्र है, जिसके द्वारा जन्म-मरण की परम्परा को विच्छिन्न किया जा सकता है। जिस व्यक्ति के जीवन में मानसिक प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, आत्म-निग्रह और भाव-संशुद्धि होती है तो समझना चाहिए कि वह व्यक्ति मानस तप कर रहा है। मानस तप को अंगीकार कर आदमी अपने जीवन में शांति प्राप्त कर सकता है, सुख प्राप्त कर सकता है और मोक्ष को भी प्राप्त कर सकता है।

१४

निष्कांक्ष तप करो

तपस्या शरीर और वाणी के स्तर पर भी की जा सकती है और मानसिक व भावात्मक स्तर पर भी तपस्या का प्रयोग किया जा सकता है। जिस तपस्या में लक्ष्य विशुद्ध हो, फलाकांक्षा न हो, वैसी तपस्या सात्त्विक होती है। तपस्या रजोगुणयुक्त भी हो सकती है। राजस तप के संदर्भ में श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया—

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।।१७/१८।।

जो तप सत्कार, सम्मान व पूजा के लिए तथा प्रदर्शन के लिए किया जाता है, वह राजसिक तप कहलाता है। वह अस्थिर और अस्थायी होता है।

जिस तपस्या में मुक्ति की कामना होती है, वह तपस्या सात्त्विक होती है। जिस तपस्या के साथ भौतिक कामना का योग हो जाए, मान सम्मान पाने की भावना, पूजा प्राप्त करने की भावना हो जाए कि मैं तपस्या करूंगा तो लोग मेरा सत्कार करेंगे, मुझे मोमेंटों देंगे, मेरा अभिनन्दन होगा, मेरे लिए गीत गाए जाएंगे। इस आकांक्षा से किया जानेवाला तप राजस तप होता है। दसवेआलियं सूत्र में कहा गया—

पूयणट्ठी जसोकामी, माणसम्माणकामए।
बहुं पसवई पावं, मायासल्लं च कुव्वई।।५।२।३५।।

पूजा का अर्थी, यश का कामी और मान-सम्मान की कामना करनेवाला मुनि बहुत पाप का अर्जन करता है और माया शल्य का आचरण करता है।

जो साधक यह सोचता है कि मान-सम्मान तो तब मिलेगा, जब मैं तपस्या ज्यादा करूंगा। जबकि सच यह है कि वह थोड़ी तपस्या तो कर सकता

है, पर अच्छा मान-सम्मान मिले उतनी तपस्या करने की क्षमता उसमें नहीं है। फिर वह मायाचार का सेवन करता है। तपस्या कम करता है और दिखावा ज्यादा करता है। एक साधु भी कई बार मान-सम्मान के लिए मायाचार में प्रवृत्त हो सकता है। एक गांव में साधुओं का एक समूह आया। उन साधुओं में एक तपस्वी, एक विद्वान, एक अच्छा वक्ता और एक बिल्कुल सामान्य साधु था। जो तपस्वी था, लोग उसे बहुत मान-सम्मान देते। जो ज्ञानी था, उसके पास भी लोग आते और काफी चर्चा-वार्ता करते। जो वक्ता साधु था, लोग उसका भी बड़ा सम्मान करते, किन्तु जो साधु न वक्ता था, न विद्वान था, न तपस्वी था, उसका मान-सम्मान तो होता था, किन्तु ज्यादा नहीं होता। एक बार बाहर से कुछ लोग आए और उस सामान्य साधु से पूछा—तपस्वी महाराज कौनसे हैं? वह अपने आपको तपस्वी बताने का प्रयास करने लगा। उसने कहा—साधु तपस्वी ही होते हैं। यह मायाजाल है। गीताकार ने कहा कि थोड़ी तपस्या करके दिखावा करने के लिए द्वन्द्व करना तपस्या के तेज को कम करने का प्रयास है। गीताकार ने दो शब्दों का प्रयोग किया है—चंचल और अध्रुव। राजसिक तप से जो फल मिलता है, वह ज्यादा टिकाऊ नहीं होता और कौनसा फल मिलेगा, यह भी ज्ञात नहीं होता। जिस तपस्या के साथ कामना जुड़ जाती है, वह तपस्या चंचल फलवाली और अनिश्चित फलवाली बन जाती है

माया चेतना को विकृत करनेवाला तत्त्व होता है। जीवन में यदि सच्चाई है, यथार्थ है तो वह भी तपस्या है। कोई भूखा न रह सके तो कोई बात नहीं, सरलता का जीवन जीए, झूठ न बोले तो वह भी एक अच्छी साधना है। ऐसे संस्कार मिल जाएं, ऐसी प्रेरणा मिल जाए तो आदमी द्वन्द्वविजेता बन सकता है।

तामस तप को बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।।१७।१९।।

जो तप मूर्खतापूर्ण दुराग्रह के साथ अपने आपको कष्ट देकर या दूसरों को हानि पहुंचाने के लिए किया जाता है, वह तामसिक तप कहलाता है।

तामस तप में अज्ञानता होती है। मूढ़ आदमी तपस्या तो करता है, किन्तु वह ठीक विधि से नहीं करता। उसके द्वारा किया जानेवाला तप तामस तप होता है। इस तप में शरीर को खूब कष्ट दिया जाता है, परन्तु तपस्या में विवेक नहीं होता है। तामस तप में एक खास बात यह बताई गई है कि दूसरों का बुरा करने

के लिए तप किया जाता है। आदमी अपना भला करने के लिए तपस्या करे तो बात समझ में आती है, किन्तु दूसरों का अनिष्ट हो, इसलिए तपस्या करना निम्नस्तर का चिन्तन होता है। कुछ लोग बताते हैं कि तांत्रिक अथवा मांत्रिक द्वारा हमारे ऊपर ऐसा प्रयोग किया गया या कराया गया, जिससे हमारा व्यापार ठप्प हो गया, हमारा स्वास्थ्य खराब रहने लग गया, परिवार में अनेक मौतें हो गईं, किसी का दिमाग भ्रांत कर दिया गया, आपसी संबंध खराब कर दिए गए आदि। इन सब बातों में वास्तविकता कितनी है, यह तो कहना कठिन है। कुछ झूठा वहम भी हो सकता है, झूठी आशंका भी हो सकती है और कहीं वास्तविकता भी हो सकती है। दूसरों का अनिष्ट करने के लिए तपस्या करना महापाप का काम होता है। प्राचीन साहित्य में यह उल्लेख मिलता है कि तपस्या के द्वारा ऐसी लब्धि प्राप्त की जा सकती है, जिसके द्वारा दूसरों का अनिष्ट किया जा सकता है। जैन वाङ्मय में तेजोलब्धि का वर्णन आता है। तेजोलब्धि के द्वारा आग निकालकर दूसरों को भस्म भी किया जा सकता है। गीताकार ने ऐसे तप को निकृष्ट तप माना है। कई साधक ऐसे होते हैं, जिनको साधना करते-करते लब्धि, सिद्धि प्राप्त हो जाती है। ये अपनी शक्ति से दूसरों का भला भी कर सकते हैं और बुरा भी कर सकते हैं। वे अनुग्रह भी कर सकते हैं और निग्रह भी कर सकते हैं।

एक तपस्वी साधु पेड़ के नीचे बैठकर साधना किया करता था। एक दिन वह जिस पेड़ के नीचे बैठकर साधना कर रहा था, उस पेड़ पर एक छोटा पक्षी बलाका बैठा था। उसने साधु पर कुछ गंदगी कर दी। तपस्वी को गुस्सा आ गया। उसने गुस्से में आकर उस पक्षी को देखा। साधु में इतना तेज था कि देखनेमात्र से पक्षी तड़फड़ाया और नीचे आकर गिर गया। कुछ ही क्षणों में वह मर गया। संन्यासी का अहंकार बढ़ गया कि मेरे पास कितनी शक्ति है। मैं किसी को मात्र देखकर मार सकता हूं। यद्यपि साधक को हिंसा, विनाश, अहंकार आदि से दूर रहना चाहिए, परन्तु कईयों को अहंकार आ जाता है। वही साधक एक बार भिक्षा प्राप्त करने के लिए गांव में गया। एक घर के मुख्य द्वार पर खड़ा होकर उच्चस्वर से बोला—'भिक्षां देही भगिनी!' बहन! मुझे भिक्षा दो। घर में जो महिला थी, उसको भिक्षा लेकर आने में कुछ देरी हो गई। बाबा को गुस्सा आ गया। उसने कहा—तुमने इतनी देरी क्यों की? मैं कब से यहां खड़ा हूं। बाबा ने सोचा, इसको भी देखूंगा और यह मर जाएगी। संन्यासी ने आक्रोशभरी दृष्टि से महिला की ओर देखा, पर महिला पर उसका कोई असर

नहीं हुआ। वह ज्यों की त्यों खड़ी रही। महिला भी साधिका थी। बाबा ने एक बार देखा, दो बार देखा, तीन बार देखा, पर उस बहन पर कोई असर नहीं हुआ। जब वह निराश हो गया, तब बहन बोली—बाबाजी! नाहं बलाका। मैं वह बलाका पक्षी नहीं हूं, जो आपके देखनेमात्र से मर जाऊं। संन्यासी थोड़ा ठण्डा हुआ, फिर पूछा—बहन! तुम्हारे पास कौनसी साधना है, जिसके कारण मेरी लब्धि का, आक्रोश का तुम पर कोई असर नहीं हुआ। वह बोली—बाबाजी! मेरे पास शील की साधना है। मैं शीलवती महिला हूं, पतिव्रता महिला हूं। मेरा पति बीमार है। मैं बीमार पति की सेवा कर रही थी, इसलिए भिक्षा लेकर आने में विलम्ब हो गया। मेरा लक्ष्य आपकी आशातना करना नहीं था। चूंकि मेरा पति बीमार था, बीमार की सेवा करना मेरा पहला फर्ज था। पहले मैंने पति को खाना दिया, फिर आपके लिए भिक्षा लेकर आई हूं। मेरे पास शील का तेज है, इस कारण आपके आक्रोश का मेरे ऊपर कोई असर नहीं हो सकता।

जैन रामायण में प्रसंग आता है कि रावण को युद्ध करने के लिए शक्ति की अपेक्षा थी। रावण ने युद्ध में विजयी बनने के लिए तपस्या की। वह कई दिनों तक भूखा रहा, जप किया, इन्द्रिय-संयम किया, किन्तु तपस्या का उद्देश्य अच्छा नहीं था। उसका उद्देश्य था शत्रु सेना का विनाश। रावण ने तपस्या करके बहुरूपिणी विद्या प्राप्त की। लक्ष्मण के साथ युद्ध के दौरान रावण ने अपने दस मुख बना लिए। यद्यपि लक्ष्मण शक्तिशाली पुरुष था, किन्तु रावण ने जब शक्ति का प्रहार किया तो एक बार लक्ष्मण भी शक्ति से आहत हो गया। फिर विशल्या के योग से लक्ष्मण ठीक हो गया। फिर पुनः युद्ध हुआ और आखिर रावण का विनाश हो गया। गीताकार ने कहा कि दूसरों का विनाश करने के लिए जो तप तपा जाता है, वह न सात्त्विक तप है, न राजस तप है, वह तामस तप की संज्ञा में आ जाता है। हम तपस्या करें, साधना करें, उसका उद्देश्य पूर्वार्जित कर्म-निर्जरा, परम की प्राप्ति और आत्मा का कल्याण होना चाहिए। हमारी आत्मा ने पिछले जन्मों में कितने-कितने कर्मों का बंध किया होगा। हम किस-किस योनी में रहें होंगे। अब यह जो मानव जन्म मिला है इसमें हमें कुछ ज्ञान प्राप्त हो सकता है। हम ऐसी साधना करें, ऐसी तपस्या करें कि हमारे पूर्वार्जित पापकर्म क्षीण हों और हम सद्गति या मोक्षगति की ओर अग्रसर हो सकें।

जैन वाङ्मय के अनुसार सुगति उसे मिलती है, जिस आदमी के जीवन में तपस्या की प्रधानता होती है। किसी से उपवास आदि ज्यादा न हो सके तो

अच्छे शास्त्रों का अध्ययन करे, धर्मकथा सुने और पवित्र परोपकार करने की भावना रखे। दूसरों का बुरा तो कभी करना ही नहीं चाहिए, जितना हो सके दूसरों का भला करने की, दूसरों का कल्याण करने की भावना रखना भी तपस्या है। ध्यान करना, प्रभु का स्मरण करना भी तपस्या है। ऐसे मंत्रों का पाठ करें, जो चारित्र आत्माओं से जुड़े हुए मंत्र हैं। वह जप भी तपस्या बन जाता है। तपस्या के अनेक प्रकार हैं। व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार अपने आपको तपस्या में नियोजित करने का प्रयास करे। सम्यक्दृष्टि साधक तामस और राजस तप से बचे और सात्त्विक तप की आराधना करने का प्रयास करे।

१५

उत्तम दान दो

हमारी दुनिया में दान का बहुत महत्त्व है। अनेक लोग गरीबों को, जरूरतमंदों को, भूखों को दान देते हैं। दान में पैसा भी देते हैं, रोटी भी देते हैं, वस्त्र आदि भी देते हैं। अनेक संस्थाओं को दान दिया जाता है, संत-महात्माओं को दान दिया जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में दान के तीन प्रकार बताए गए हैं—सात्त्विक दान, राजस दान और तामस दान। गीताकार ने सात्त्विक दान की व्याख्या करते हुए कहा है—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।।१७/२०।।

जो दान ऐसे व्यक्ति को दिया जाता है, जिससे किसी प्रतिफल की आशा नहीं है और इस भावना से दिया जाता है कि दान देना हमारा कर्त्तव्य है तथा उचित स्थान में, उचित समय पर और योग्य व्यक्ति को दिया जाता है, वह दान सात्त्विक माना जाता है।

अनाकांक्ष भावना से, अप्रतिफल की भावना से अथवा जो हमारा उपकार करनेवाला नहीं है, उस आदमी को दान देना सात्त्विक दान है। आदमी के पास पैसा होता है, धन होता है, वस्तुएं होती हैं, फिर भी दान देना सबके लिए संभव नहीं होता। सामान्यतया उस आदमी को दरिद्र माना जाता है, जो गरीब होता है, निर्धन होता है, दयनीय होता है, किन्तु आचार्य भिक्षु ने कहा—दरिद्र वह होता है, जिसके घर में धन है, वस्तुएं हैं, पर वह दान नहीं दे सकता। उसका धन धरती पर भारभूत है और मात्र अहंकार का कारण बनता है। उसका धन दूसरों के लिए उपयोगी नहीं बनता।

गुरुदेव तुलसी ने एक शब्द दिया—विसर्जन। उन्होंने कहा—आसक्ति

छोड़ो, स्वामित्व छोड़ो, त्याग करो। जितना त्याग बढ़ेगा, उतनी आसक्ति छूटेगी और आत्मा का कल्याण होगा। जो आदमी कंजूस वृत्तिवाला होता है, उसके लिए हाथ से कुछ देना बड़ा मुश्किल होता है। गीताकार ने कहा कि उचित पात्र में दान दो। जैन वाङ्मय में बताया गया कि सुपात्र को दान देने से बड़ा फल मिलता है। जो त्यागी संत-महात्मा हैं, जिन्होंने संसार का त्याग कर दिया, धन-वैभव का त्याग कर दिया, महाव्रतों को स्वीकार कर लिया, ऐसे साधुओं को दान देना सुपात्र दान है। ऐसे दान से धर्म होता है और साथ में पुण्य का बंध भी होता है। यदि व्यक्ति गलत कार्यों के लिए या हिंसाजन्य कार्यों के लिए दान देता है तो वह कुपात्र को दान देना, अपात्र को दान देना कहा जाता है। दान के साथ त्याग और संयम की भावना होनी चाहिए। प्राचीन साहित्य में तो यहां तक कहा गया कि ज्यादा संग्रह करना पाप है। जितने से पेट भर जाए आदमी को उतना ही संग्रह करना चाहिए। उतने पर स्वामित्व रखना आदमी का अधिकार है, किन्तु जो उससे ज्यादा रखता है, वह चोर है, पीटने के काबिल है। एक जगह यह भी कहा गया कि तुम भोग करो, किन्तु भोग से पहले तुम त्याग करो। अकेले मत खाओ। त्याग करके खाओगे तो उसका अलग आनंद आएगा। केवल स्वयं के लिए ही संग्रह करोगे तो तुम्हें संतोष का सुख नहीं मिल सकेगा। अतः संविभाग की चेतना को जगाना चाहिए। जिस देश की जनता में त्याग की चेतना जागृत हो जाती है, वह देश सुखी रहता है।

एक बार कहीं बाढ़ आ गई। जब कभी प्राकृतिक आपदाएं आती हैं तो अनेक लोग करुणार्द्र हो जाते हैं। अनेक संस्थाएं ऐसी स्थिति में लोगों की सेवा करने के लिए तत्पर हो जाती हैं। एक संस्था के कार्यकर्ता ने बताया कि लोग बाढ़ से पीड़ित हैं। उनके लिए खाने की व्यवस्था करना सबसे पहला काम है। हम हेलीकॉप्टर से उनके पास भोजन पहुंचा दें, ऐसी व्यवस्था करेंगे। कार्यकर्ता भोजन तैयार कर रहे थे। वे बाढ़-पीड़ितों के लिए सूंखड़ी बना रहे थे। जहां वे सूंखड़ी बना रहे थे, वहां एक भिखारिन बार-बार आ रही थी। कार्यकर्त्ता बोले—बहन! आज जो यह सूंखड़ी बन रही है, वह बाढ़-पीड़ितों के लिए है। आज इसमें से तुमको कुछ भी नहीं मिलेगा। भिखारिन ने बड़ा मार्मिक जवाब दिया। उसने कहा—महाशय! मैं सूंखड़ी मांगने के लिए नहीं आई हूं। मैं तो आपको यह आटा देने के लिए आई हूं। आज मुझे दिनभर की भीख में जो आटा मिला है, वह आटा भी आप ले लीजिए और उसकी भी सूंखड़ी बना लीजिए। मेरा आटा भी उन बाढ़-पीड़ितों के काम आ जाए तो मुझे खुशी होगी।

भिखारिन ने कहा कि आज वे लोग मेरे से भी ज्यादा दुःखी हैं, जो बाढ़ से ग्रस्त हैं। उनको पहले खाना मिलना चाहिए। एक भिखारिन ने बाढ़-पीड़ितों के लिए अपने भोजन की सामग्री दी।

त्याग और दान के संस्कारों की परम्परा चलती है। यदि एक आदमी किसी को दान देता है, सहयोग करता है तो हो सकता है अगले जन्म में वह भी उसका सहयोग करे। आचार्य भिक्षु ने कहा कि रागभाव और वैरभाव के संस्कारों की परम्परा चलती है। अगर किसी के साथ मित्रता का संबंध है तो मरने के बाद भी अगली गति में उसके साथ मित्रता का संबंध रह सकता है। किसी के साथ दुश्मनी का संबंध है तो मरने के बाद भी अगली गति में आपस में वैरभाव पैदा हो सकता है। संस्कारों की परम्परा चलती रहती है, यह एक सिद्धान्त माना गया है। एक जन्म के संस्कार अनेक जन्मों तक बने रह सकते हैं। दो भाइयों में यदि बड़ा प्रेम है तो संभव है अगले जन्मों में निकट संबंधी बनने का मौका मिल सकता है। अनेक जन्मों तक संबंधों की परम्परा चलती रहती है। हमें पता चले या न चले, पर सिद्धान्त के अनुसार पूर्वजन्म होता है और पुनर्जन्म भी होता है। प्रेक्षाध्यान के शिविरों में भी पूर्वजन्म की अनुभूति के प्रयोग कराए जाते हैं। शिविरार्थियों को कुछ अनुभूतियां भी होती हैं। हो सकता है कभी-कभी भीतर के कोई संस्कार जाग जाएं और वास्तव में व्यक्ति अपने पिछले जन्म को देख ले। सभी को पिछले जन्म का ज्ञान हो जाए, यह मुझे संभव नहीं लगता। अतः आदमी इस सिद्धान्त को मानकर चले कि जैसे पूर्वजन्म होता है, वैसे ही पुनर्जन्म भी होता है। मैं यहां जैसा कर्म करूंगा, वैसा फल मुझे आगे मिलनेवाला है, इसलिए मैं गलत कार्य न करूं। यह कर्मवाद का सिद्धान्त पूर्वजन्म के साथ जुड़ा हुआ है। पूर्वजन्म में आदमी जैसे कर्म करता है, उनके अनुसार ही उसे फल मिलता है। हम किसी को अपनी ओर से तकलीफ न दें, किसी के साथ दुश्मनी का भाव न रखें ताकि हमें कटु परिणाम न भोगना पड़े। यदि हमारा यह जीवन अच्छा होगा, हमारा व्यवहार अच्छा होगा, भाव अच्छे होंगे तो हमें अगले जन्मों में भी शांति मिल सकेगी, सुख मिल सकेगा। पता नहीं किस जन्म का बंधा हुआ कर्म किस जन्म में उदय में आता है और आदमी को तकलीफ हो जाती है। अल्पायु महिला को पति वियोग का दुःख देखना पड़ता है या मां-बाप का जवान बेटा चला जाता है तो मानना चाहिए कि कोई ऐसा कर्म किया होगा, जिसकी बदौलत उन्हें पति वियोग या पुत्र वियोग का दुःख देखना पड़ा है। यदि शरीर में कोई बीमारी हो जाए या तकलीफ हो जाए तो अनुमान लगा लें कि

पिछले जन्म में किसी को दुःख दिया होगा, इसलिए आज कष्ट भोगना पड़ रहा है। हम दूसरों का कल्याण करेंगे, दूसरों को तारने का प्रयास करेंगे, दूसरों को चित्तसमाधि पहुंचाएंगे, धर्म का कार्य करेंगे तो हमें भी आगे सुख-शांति मिलेगी। हम गलत काम करेंगे तो गलत परिणाम भोगना पड़ेगा। आदमी जैसा कर्म करता है, वैसा फल उसे आगे मिलता है। हमें जीवन में सुख-दुःख मिलता है, उसका संबंध हमारे पूर्वार्जित कर्मों के साथ जुड़ा हुआ होता है। यह कर्मवाद का सिद्धान्त बहुत व्यापक है।

गीताकार ने बताया कि जो दान उचित समय पर, उचित स्थान में, उचित पात्र को दिया जाता है और प्रतिफल की भावना के बिना मात्र कर्त्तव्य-निर्वाह या कर्म-निर्वाह के लिए दिया जाता है, वह दान सात्त्विक दान होता है। जिनके पास धन है, पैसा है, उन्हें धन का घमण्ड नहीं करना चाहिए। धन का कोई भरोसा नहीं होता। वह कब आए और कब चला जाए। लक्ष्मी चंचल है, ये प्राण चंचल हैं, हमारा जीवन भी चंचल है। एक धर्म ऐसा तत्त्व है, जो हमारा कल्याण कर सकता है।

जैन वाङ्मय में दान के दो प्रकार बताए गए हैं—१. लौकिक दान २. लोकोत्तर दान। लौकिक दान में भूखे को रोटी देना, प्यासे को पानी पिलाना, गरीब को पैसा देना, किसी को कपड़ा देना आदि होता है। इनका भी अपना मूल्य है। जो यह दान देता है उसे भी उसका प्रतिफल कभी न कभी अवश्य मिलता है। दूसरा लोकोत्तर दान है जो आत्मा के संदर्भ में दिया जाता है। किसी को अच्छा ज्ञान देना, किसी साधु को संयम की साधना का निर्वहन करने के लिए भोजन, वस्त्र आदि का दान देना लोकोत्तर दान है। सभी प्राणियों को अभय दान देना भी लोकोत्तर दान है। लौकिक दान, लोकोत्तर दान—दोनों का अपना-अपना मूल्य है। गीता के सात्त्विक दान को समझें, मनन करें और अपने जीवन में बिना किसी प्रतिफल की भावना से दान देने की भावना रखें। इस प्रकार का दान पूर्ण आत्म-समर्पण की ओर ले जाता है।

राजस दान के बारे में बताते हुए गीताकार कहते हैं—

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।।१७/२१।।

जो दान किसी प्रतिफल की आशा से या भविष्य में किसी लाभ की आशा

से दिया जाता है और जिस दान को देने में क्लेश होता है, उसे राजसिक माना जाता है।

जिसमें प्रत्युपकार की भावना होती है यानी मैं देता हूं तो मुझे भी वह व्यक्ति कभी वापस दे। इस अनुबंध के साथ जो दान दिया जाता है, वह राजस दान होता है। उसमें शुद्धता नहीं रहती। जैसे मैं यहां दान दे रहा हूं तो मुझे अगली गति में वैभव मिले, धन मिले, संपदा मिले, इस फलाकांक्षा के साथ दिया जानेवाला राजस दान कहलाता है। यह अलग बात है कि किसी को कुछ दान दिया जाता है तो वह व्यक्ति अपनी इच्छा से उसका सहयोग भी कर सकता है, किन्तु दान देनेवाले के मन में फलाकांक्षा है तो दान की शुद्धता में कमी आ जाती है। किसी का सहयोग करने पर वह व्यक्ति वापिस मौके पर सहयोग करता है यह एक सामान्य बात है।

अकाल का समय था। कुछ भील जाति के लड़के पेट भरने के लिए किसी कार्य की खोज में इधर-उधर जा रहे थे। दो लड़के एक सेठ की हवेली के नीचे से जा रहे थे। सेठ ने उनको देखा, बुलाया और पूछा—तुम कौन हो और कहां जा रहे हो? लड़कों ने कहा—हम तो आपके पासवाले गांव के ही निवासी हैं। अभी अकाल है, खेती-बाड़ी कुछ नहीं है, इसलिए पेट भरने का कहीं जुगाड़ हो जाए, इस खोज में घूम रहे हैं। सेठ को दया आ गई कि बेचारे कहां-कहां घूमेंगे। सेठ ने कहा—तुम दोनों मेरे पास रह जाओ। मेरे घर का कुछ काम कर दिया करो और आराम से भोजन कर लिया करो। बड़े प्यार से सेठ ने उनको रखा। जब अकाल का समय पूरा हो गया, खेती-बाड़ी की अच्छी व्यवस्था हो गई, तब भील-लड़के वापस अपने गांव चले गए। कालान्तर में फिर कोई स्थिति आई और वे भील-लड़के डाकुओं की टोली के साथ मिल गए। उनका गिरोह एक जंगल में रहता। कोई उधर से आता तो उसे लूट लेता। एक बार उसी रास्ते से खूब धन माल के साथ उस सेठ का जाना हुआ, जिस सेठ के पास वे भील-लड़के रहे थे। जैसे ही सेठ की कार आती हुई दिखाई दी, डाकुओं ने एक दूसरे को संकेत किया कि कार आ रही है, हमें उसको लूटना है। वे भील-लड़के भी साथ में थे। उन्होंने ज्योंही उस कार में अपने सेठ को देखा तो मन में प्रत्युपकार की भावना आ गई कि जिस सेठ ने हमें मौके पर सहयोग दिया था, अब उनका सहयोग करना हमारा फर्ज है। उन दोनों भील-लड़कों ने डाकुओं के सरदार से कहा—महोदय! हम आपके साथी हैं, सेवक हैं। इस कार में जो सेठसाहब हैं, इनको आप बिल्कुल न लूटें, क्योंकि ये हमारे उपकारी हैं। इन्होंने

अकाल में हमको आश्रय दिया था। हम वहां रहे थे। ये हमारे स्वामी हैं। डाकुओं के सरदार ने फैसला किया कि इस सेठ को जाने दो, इनको कोई नहीं लूटेगा। सेठ बिल्कुल सुरक्षित अपने घर पहुंच गया। सेठ ने उन भील-युवकों पर कभी उपकार किया था और उन युवकों ने प्रत्युपकार के रूप में सेठ को लूटने से बचा लिया।

श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि प्रत्युपकार हो, यह अलग बात है, किन्तु प्रत्युपकार की भावना मन में न आए। राजस दान के संदर्भ में तीन बातें बताई गई हैं—

१. प्रत्युपकार की भावना से दान देना।

२. फलाकांक्षा से दान देना।

३. विवशता से या बिना इच्छा के दान देना।

ये तीनों ही बातें दान की शुद्धता को कम करनेवाली हैं।

जो महापुरुष होते हैं, उनका एक लक्षण यह होता है कि वे परोपकार करनेवाले होते हैं, उनके मन में परोपकार की भावना होती है। गीताकार ने ज्ञान के रूप में परोपकार की बात कही और यह भी स्पष्ट कहा कि दान पात्र को भी दिया जा सकता है और दान अपात्र को भी दिया जा सकता है। यद्यपि अपात्र को दिए जाने वाले दान को अच्छा नहीं माना गया। पात्र को जो दान दिया जाता है, वह उत्तम दान होता है। जैन वाङ्मय के अनुसार पात्र का मतलब साधु है। साधु को जो दान दिया जाता है, वह उत्तम दान है। शेष लौकिक दान हैं। लौकिक दान का भी मूल्य होता है। कुछ लोग कृपण होते हैं। उनके हाथ से मानो कुछ दिया ही नहीं जा सकता। सामाजिक और लौकिक संदर्भों में भी कंजूसी को बुरा माना गया है। जिस व्यक्ति के पास समृद्धि हो और उसके पास कोई गरीब व्यक्ति मांगने आ जाए, उसको मुंह से जवाब देना लौकिक संदर्भों में अच्छा नहीं माना जाता। धन के प्रति मोह या आसक्ति है, वह पाप है। आसक्ति बन्धन का कारण है और अनासक्ति मुक्ति का कारण है। हम आसक्ति को भी समझें, अनासक्ति को भी समझें और दान को इस रूप में समझें कि सब दान एक समान नहीं हैं, जैसे—गाय, भैंस, आक और थूअर—इन चारों का दूध होता है, परन्तु सबका दूध एक समान नहीं होता है।

आचार्य भिक्षु ने कहा कि जिस प्रकार सब दूध दिखने में सफेद हैं, पर दूध-दूध में कितना अंतर है, उसी प्रकार अनुकंपा-अनुकंपा में भी अन्तर है।

अनुकंपा भी दो प्रकार की होती है। एक लोकोत्तर अनुकंपा होती है और एक लौकिक अनुकंपा होती है। जो अनुकंपा आत्मा के संदर्भ में होती है, वह लोकोत्तर अनुकंपा है और जो अनुकंपा मात्र शरीर के संदर्भ में होती है, वह लौकिक अनुकंपा है। आचार्य भिक्षु ने दान-दया पर काफी विवेचना की है। उनके ग्रन्थों में दान-दया के बारे में काफी प्रकाश मिलता है। गीताकार ने कहा कि दान-दान सब समान नहीं होते हैं, दान-दान में अंतर है। एक सात्त्विक दान होता है, दूसरा राजस दान होता है, तीसरा तामस दान होता है। हर दान को हम अच्छी तरह समझें और कौनसा दान उत्तम है उस पर भी विचार करें। आदमी राजस दान और तामस दान की अपेक्षा सात्त्विक दान के द्वारा स्वयं को और दूसरे को ज्यादा अनुगृहीत कर सकता है।

सात्त्विक दान जहां उत्तम कोटि का दान है, वहीं राजस दान को मध्यम कोटि का दान कहा जा सकता है। दान का तीसरा प्रकार है—तामस दान। यह एक निकृष्ट कोटि का दान है। तामस दान के बारे में गीताकार कहते हैं—

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।।१७/२२।।

जो दान गलत स्थान पर या गलत समय पर या अयोग्य व्यक्ति को बिना उचित समारोह के या तिरस्कारपूर्वक दिया जाता है, वह तामसिक दान कहा जाता है।

तामस दान के अनेक मानक बताए गए हैं। पहला मानक है—अनुचित देश और काल में दिया जानेवाला दान। अनुचित देश का तात्पर्य है जहां कच्चा पानी पड़ा हो वहां जैन मुनि को कोई दान देने की भावना रखता है तो वह क्षेत्र साधु के लिए अदेश है, क्योंकि साधु निरवद्य स्थान में ही दान ले सकता है। जहां हरियाली है, अंकुरे हैं, कीड़े-मकोड़े हैं, जीव-जन्तु हैं, जहां जीवों की हिंसा होने की संभावना है, वह क्षेत्र साधु के लिए अदेश हो जाता है। ऐसे क्षेत्र में दान देना तामस दान के अन्तर्गत आता है। इसलिए साधु को उचित क्षेत्र में दान देने की भावना रखनी चाहिए। अनुचित काल का तात्पर्य है जैसे कोई आदमी साधु को दान देना चाहता है और वह रात के समय आकर दान दे तो वह दान साधु के लिए अग्रहणीय होगा, क्योंकि रात का समय भिक्षा के लिए अकाल है अर्थात् साधु के लिए रात को भिक्षा लेना अकल्पनीय है, आचार सम्मत नहीं है और यदि साधु को रात में जबरदस्ती दान दे भी दिया जाता है तो वह तामस दान की

श्रेणी में आ जाता है। जिस व्यक्ति का जो नियम है उसके प्रतिकूल दान देने की चेष्टा करना तामस दान है। जिस व्यक्ति के लिए जो काल निधारित है उसमें दान देना तो कालोचित दान है, किन्तु उसके सिवाय दान देने का प्रयास करना अकालोचित दान हो जाता है। जैन वाङ्मय के दसवेआलियं सूत्र में साधु के लिए कहा गया—

अकाले चरसि भिक्खू, कालं न पडिलेहसि।
अप्पाणं च किलामेसि, सन्निवेसं च गरिहसि।।५/२/५।।

भिक्षो! तुम अकाल में जाते हो, काल की प्रतिलेखना नहीं करते। इसीलिए तुम अपने आपको क्लान्त (खिन्न) करते हो और सन्निवेश (ग्राम) की निन्दा करते हो।

साधु भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर जाए तो समय पर जाए, जिन घरों में भोजन का जो समय हो, उस समय जाए। यदि लोग एक बजे खाना खाते हैं और साधु ग्यारह बजे भिक्षा के लिए जाए तो हो सकता है साधु को भिक्षा न मिले। अतः गांव में या घरों में खाने का जो समय हो, उस समय भिक्षा के लिए जाना चाहिए। संभव है उस समय आहार उपलब्ध हो जाए। अन्यथा कुछ न मिलने पर साधु के मन में खिन्नता भी आ सकती है। दान देनेवाला यह सोचे कि मैं साधु को अकाल में नहीं, काल में दान देने की भावना रखूं और दान देने का प्रयास करूं।

दूसरा मानक बताया गया—अपात्र को दान देना। आचार्य भिक्षु के साहित्य में सुपात्र, अपात्र की बात आती है और गीता में भी सुपात्र, कुपात्र, अपात्र आदि की बात है। अपात्र को दान देना अच्छा नहीं माना जाता। गीताकार के अनुसार अपात्र को दान देने का तात्पर्य है किसी डाकू, चोर, आतंकवादी आदि को दान देना। जो किसी गलत कार्य में लगे हुए हैं, उन्हें दान देने का अर्थ है उनके गलत कामों का समर्थन करना, सहयोग देना। इसलिए ऐसा दान अपात्र दान हो जाता है। अपात्र को जो दान दिया जाता है वह तामस दान होता है। आचार्य भिक्षु ने तो अपात्र दान की बहुत सूक्ष्म मीमांसा की है। उनके अनुसार जो संयमी है, वह पात्र है और जो असंयमी है, वह अपात्र है।

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं—पात्र ठीक है, देश ठीक है, क्षेत्र ठीक है और काल भी ठीक है, पर देनेवाला किस रूप में दे रहा है, यह बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है। देनेवाला यदि सम्मान के साथ दे, तब तो दान ठीक है, वह राजसदान

कहलाएगा, किन्तु देनेवाला तिरस्कार के साथ दान दे, झिड़ककर दान दे, वह दान तामस हो जाएगा। यदि घर में कोई संत-महात्मा आए, उनको नमस्कारपूर्वक बड़ी भावना से सम्मान के साथ दान दिया जाए तो वह सात्त्विक दान हो जाएगा।

प्राचीन समय में जब साधु गांवों में, घरों में भिक्षा के लिए जाते तो उन्हें तिरस्कार झेलना पड़ता। हालांकि साधु का तो धर्म है कि तिरस्कार मिले या सत्कार मिले, सबको समता से झेले। जैसे गांवों के लोग बोल देते कि तुम लोगों ने मुंह तो बांध लिया, पर पेट क्यों नहीं बांधा? यहां भिक्षा के लिए क्यों आए हो? ढूंढ़ीए आदि शब्द बोलकर भी अवमानना करते। अवमानना करके दान देना भी तामस दान हो जाता है। साधु दान का अधिकारी होता है। साधु भिक्षा के लिए जाए, हाथ फैलाए, वह उसके लिए गौरव की बात है। किन्तु एक गृहस्थ के लिए मांगना शर्म की बात होती है। गृहस्थ को हाथ फैलाना पड़े तो उसके लिए लज्जा की बात होती है। लोग भिखारी को कुछ देते हैं और संत-महात्मा को देते हैं, पर दोनों में भावना का अन्तर रहता है। एक साधु जिसने संसार का त्याग कर दिया, अकिंचन और अपरिग्रही हो गया, उसका तो गृहस्थ के घर में आना और भिक्षा लेना एक अहोभाग्य की बात होती है। यदि कोई दूसरा सामान्य व्यक्ति आ जाए तो उसमें वह गौरव का अनुभव नहीं होता।

गीताकार ने दान के संदर्भ में अनेक बातों की विवेचना की। यदि दान में अनिष्ट करने की भावना आ जाए तो वह महानिकृष्ट कोटि का दान हो जाता है। एक जैन मुनि किसी के घर भिक्षा के लिए गए। उस घर में जो गृहिणी थी, वह साधुओं से द्वेष रखती थी, परन्तु उसका पति साधुओं के प्रति भक्ति रखता था। गृहिणी ने लड्डू बनाए, उसमें जहर डाल दिया। जब साधु भिक्षा के लिए आया तो गृहिणी ने दिखावटी उल्लास के साथ वह जहर का लड्डू साधु को भिक्षा में दे दिया। साधु तो सहज भाव में थे। वे भिक्षा लेकर अपने स्थान पर आ गए। जब सेठजी साधु को पहुंचाकर वापिस अपने घर आए तो पत्नी ने कहा—आज तो मैंने तुम्हारे साधु को ऐसा दान दिया है कि एक दो घंटे में उसका सारा काम तमाम हो जाएगा। जब सेठ ने यह बात सुनी तो वह दौड़ा-दौड़ा साधुओं के ठिकाने गया और दूर से ही आवाज लगाई—महाराज! इस भोजन का आप परिष्ठापन कर दीजिए। इन लड्डुओं को मत खाना। ये विषयुक्त हैं। सेठजी ने साधु को मरने से बचा लिया। दूसरों को मार दिया जाए या नुकसान कर दिया जाए, ऐसी भावना से दिया जानेवाला दान महानिकृष्ट कोटि का दान होता है।

जैन वाङ्मय में दान की बहुत महिमा बताई गई है। एक शुद्ध साधु को शुद्ध विधि से दान दिया जाता है, उसका बड़ा लाभ माना गया। भगवान् महावीर के सत्ताईस पूर्व भवों का वर्ण न मिलता है। भगवान् जब नयसार के भव में थे, तब लकड़ियां लाने के लिए जंगल में गए थे। उन्होंने देखा कि जंगल में कुछ साधु आए हैं। उनके मन में विचार आया कि हमारे पास जो भोजन है उसे साधुओं को देना चाहिए। उन्होंने साधुओं को भोजन का दान दिया और उनसे कुछ उपदेश भी सुना। कहा जाता है कि उसी नयसार के भव में भगवान् महावीर को सबसे पहले सम्यक्दृष्टि प्राप्त हुई और वे सम्यक्त्वी बने। महावीर के अनन्त जन्मों की अनन्तकाल की यात्रा में वह नयसार का भव बड़ा महत्त्वपूर्ण था। जब उन्हें पहली बार अध्यात्म का प्रकाश मिला। साधुओं को दान देने से और अहोभाव के साथ दान देने से बड़ा लाभ होता है।

श्रावक के बारह व्रतों में बारहवां व्रत है अतिथि संविभाग। अतिथि यानी जो बिना तिथि के आ जाए। वास्तव में साधु को अतिथि कहा गया। यदि साधु घर में आ जाए और उसको अपने भोजन का हिस्सा दिया जाए तो यह उत्तम दान है। अपने लिए जो भोजन बना है उसमें से थोड़ा अंश साधु को देना और स्वयं थोड़ी ऊनोदरी कर खा लेना, यह दान उत्तम कोटि का दान होता है। गृहस्थ साधुओं के लिए भोजन बना दे तो वह जैन मुनि के लिए अकल्पनीय दान हो जाता है। अतिथि संविभाग का अर्थ है साधुओं के लिए जो कल्पनीय हो, भले भोजन हो, भले वस्त्र हो, भले स्थान हो, संकोच करके जो सहज दान दिया जाता है, वह उत्तम दान होता है। यदि कभी साधु नहीं भी आए तो भी गृहस्थ भोजन के लिए बैठे उस समय भावना भाए कि अगर कोई शुद्ध साधु आए तो मैं अपने भोजन का थोड़ा हिस्सा दान देकर धन्य हो जाऊं। इस प्रकार भावना भाने से भी लाभ मिलता है। साधु के लिए कहा गया कि वह दूसरे साधु को देने की भावना रखे। जैसे एक साधु भिक्षा लेकर आया। वह मन में यह भावना करे कि मेरे आचार्य, मेरे गुरु, मेरे साधर्मिक साधु मेरी भिक्षा में से कुछ भी अंश ले लें तो मैं धन्य हो जाऊंगा।

आगम साहित्य में बताया गया है कि एक साधु ऐसा होता है जो भिक्षा में घरों से अच्छी चीजें लेकर आता है और फिर सोचता है कि मैं स्थान पर जाऊंगा तो वहां मेरे गुरु कुछ ले लेंगे या अन्य साधर्मिक साधु कुछ ले लेंगे। इसलिए वह साधु अच्छी-अच्छी चीजों को रास्ते में ही खा लेता है और सामान्य चीजें अपने प्रवास स्थल पर लेकर आता है। यह साधु का दुश्चिन्तन है। एक तरह से वह

चोरी का काम करता है। दान साधु के लिए भी देय होता है और गृहस्थ के लिए भी देय होता है। दान में नाम की भावना नहीं रखनी चाहिए। बिना कोई नाम या ख्याति की भावना से मात्र पवित्र भावना से अहोभाव के साथ दान दिया जाना चाहिए। जैन वाङ्मय के ठाणं सूत्र में दान के दस प्रकार बताए गए हैं–

१. अनुकम्पादान–करुणा से देना।

२. संग्रहदान–सहायता के लिए देना।

३. भयदान–भय से देना।

४. कारुण्यदान–मृत के पीछे देना।

५. लज्जादान–लज्जावश देना।

६. गौरवदान–यश के लिए देना, गर्वपूर्वक देना।

७. अधर्मदान–हिंसा, असत्य आदि पापों में आसक्त व्यक्ति को देना।

८. धर्मदान–संयमी को देना।

९. कृतभितिदान–अमुक ने सहयोग किया था, इसलिए उसे देना।

१०. करिष्यतिदान–अमुक आगे सहयोग करेगा, इसलिए उसे देना।

आदमी तामस दान से बचने का और सात्त्विक दान देने का प्रयास करे तो उसका इहभव और परभव दोनों अच्छे हो सकते हैं।

१६

सुप्रत्याख्यान करो

श्रीमद्भगवद्गीता में त्याग के बारे में चर्चा की गई है। त्याग के तीन प्रकारों में एक प्रकार है—तामस त्याग। वहां तामस त्याग के बारे में कहा गया—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ।।१८/७।।

किसी भी नियत किए गए कर्म का त्याग करना उचित नहीं है। मोह के कारण उसका त्याग कर देना तामस त्याग कहा गया है।

जिस बात का त्याग नहीं करना चाहिए, आदमी उसका त्याग कर लेता है तो वह तामस त्याग हो जाता है। जैसे साधु को शुद्ध दान देना चाहिए और कोई आदमी दान देने का ही त्याग कर लेता है तो वह त्याग गलत हो जाता है। कोई मंत्र-जप करने का त्याग कर दे, गीता के संदर्भ में कहें तो कोई यज्ञ करने का त्याग कर दे और कोई जैन साधु प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन आदि करने का ही त्याग कर दे तो वह गीता की भाषा में तामस त्याग हो जाता है। तामस त्याग वह व्यक्ति करता है, जिसकी चेतना मोह से प्रभावित हो गई है, राग-द्वेष की भावना प्रबल हो गई है, कषाय प्रबल हो गया है। कोई व्यक्ति गुस्से में आकर यह कह दे कि आज मुझे खाने का ही त्याग है। यह त्याग गुस्से में किया गया है, इसलिए ऐसे त्याग को भी तामस त्याग की श्रेणी में लिया जा सकता है।

जैन वाङ्मय में एक शब्द आता है—दुश्प्रत्याख्यान। जो न करने का प्रत्याख्यान कर लिया जाता है, वह दुश्प्रत्याख्यान हो जाता है। सुप्रत्याख्यान यानी सुत्याग की चेतना जाग जाए तो जो कुछ समस्याएं हैं वे सारी न भी सुलझ

सकें, किन्तु उनमें कुछ कमी लाई जा सकती है और अनैतिकता या भ्रष्टाचार पर रोक लगाने में कामयाबी भी प्राप्त हो सकती है।

गीताकार के अनुसार मोह से आकुल व्यक्ति आवेशवश कोई त्याग कर लेता है या अच्छी चीज को छोड़ने का नियम ले लेता है, वह तामस त्याग हो जाता है और जैन वाङ्मय की भाषा में दुश्प्रत्याख्यान हो जाता है।

गीता की भाषा में हम सात्त्विक त्याग की दिशा में और जैन वाङ्मय की भाषा में सुप्रत्याख्यान की दिशा में अग्रसर बनें, हमारे लिए कल्याणकारी होगा।

राजस त्याग के बारे में श्रीकृष्ण कहते हैं–

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्।।१८/८।।

जो व्यक्ति कर्त्तव्य का त्याग इसलिए कर देता है कि उसे करने में कष्ट होता है या उसमें शारीरिक दुःख का भय है, वह राजसिक प्रकार का त्याग करता है और उसे त्याग का फल नहीं मिलता।

कोई आदमी दुःख से डरकर त्याग करता है, जैसे–एक गृहस्थ यह सोचता है कि गार्हस्थ्य जीवन में तो बड़ा दुःख है, कमाना पड़ता है, कितने रिश्ते निभाने पड़ते हैं, अमुक काम करना पड़ता है, इससे तो अच्छा है कि मैं संत बन जाऊं। फिर न कमाना पड़ेगा, न अन्य काम करने पड़ेंगे, आराम से मुझे भिक्षा मिल जाएगी। वह त्याग तो करता है, परन्तु वह त्याग क्लेश के भय से करता है। वह त्याग उत्तम कोटि का त्याग नहीं है। इससे त्याग का जो फल मिलना चाहिए, वह फल भी नहीं मिलता है। त्याग वह है जो आत्म-कल्याण की भावना से हो और स्ववशता में हो, परवशता में त्याग करना बड़ी बात नहीं है।

सात्त्विक त्याग के बारे में बताते हुए कहा गया है–

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।।१८/९।।

हे अर्जुन! जो शास्त्रविहित कर्म करना कर्त्तव्य है–इस भाव से आसक्ति और फल का त्याग करके किया जाता है, वह सात्त्विक त्याग माना गया है।

आदमी यह सोचे कि जो नियत काम मुझे करने हैं, जैसे–तप, यज्ञ, दान

आदि, उनमें संग और फल को त्याग देना चाहिए। करणीय कार्यों में आसक्ति और फलाकांक्षा का त्याग कर देना सात्त्विक त्याग होता है। यह बहुत बड़ा त्याग है, क्योंकि आसक्ति तो हमारे जीवन में कभी भी आ सकती है। हम अनासक्ति का अभ्यास करें, प्रयोग करें। वह प्रयोग सफल तब होगा, जब हमारी फलाकांक्षा समाप्त हो जाएगी और कार्य के साथ अनासक्त रहने का अभ्यास पुष्ट हो जाएगा। यद्यपि यह कोई असंभव जैसी बात नहीं है। आदमी यह प्रयास करे कि मैं संगमुक्त रहकर कार्य करूं और बदले में कुछ पाने की भावना न रखूं। जैसे तप, यज्ञ, सेवा आदि करणीय कार्य हैं, परन्तु इनके साथ फलाकांक्षा जुड़ जाए कि इनके बदले में मुझे अमुक भौतिक वस्तु मिल जाए, मुझे अगले जन्म में राज्य मिल जाए आदि त्याज्य है। आदमी उसका त्याग कर दे तो वह सात्त्विक त्याग हो जाएगा। सामान्य आदमी के व्यवहार में आसक्ति या फलाकांक्षा यदाकदा देखने को मिल जाती है। आदमी किसी का कुछ उपकार भी करेगा तो उसको प्रकट करने की भावना रहती है। वह चाहता है कि मैं बताऊं, मैंने ऐसा किया है।

किसी ने ठीक कहा है—नेकी कर कुएं में डाल। किसी का भला करके कुएं में डाल दो, इससे तुम्हारा भी भला हो जाएगा, परन्तु तुम उसको प्रकट करके उसके आध्यात्मिक फल को न्यून मत करो। सचमुच, श्लाघा की भावना से मुक्त रहना एक बड़ी साधना है। समाज में गुप्तदान के बारे में यदाकदा सुनने को मिलता है। उसके पीछे भी मूल कारण यही है कि व्यक्ति में नाम पाने की भावना, ख्याति प्राप्ति की भावना न रहे, क्योंकि नाम, ख्याति की भावना दान की गुणवत्ता को कुछ दूषित कर देती है। आदमी तपस्या करे। वह किसी को दिखाने के लिए नहीं, मात्र निर्जरा के लिए करे। आदमी मौन का अभ्यास करे, वह भी प्रदर्शन के लिए नहीं कि मैं इतना मौन करता हूं, अपनी साधना के लिए करे।

जो व्यक्ति परिवार में रहता है, उसके ऊपर परिवार का दायित्व भी होता है। वह यदि गृहस्थ के दायित्व को छोड़ दे तो उचित बात नहीं होती। घर के प्रमुख व्यक्ति पर अर्थार्जन का भी दायित्व होता है। यदि वह अर्थार्जन नहीं करता और घर में निठल्ला बैठा रहता है तो वह व्यक्ति अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है। संसार में कर्त्तव्य को निभाना बड़ी बात है। जिसका जो कर्त्तव्य है, उसके प्रति जागरूक रहना आदमी का सद्गुण होता है। जो अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता, वह दुनिया में कुछ अयोग्य व्यक्ति होता है। साधु का अपना

कर्त्तव्य होता है और गृहस्थ का अपना कर्त्तव्य होता है। साधु का कर्त्तव्य है—अपनी साधना करना, लोगों को धर्मोपदेश सुनाना, गोचरी करना, सेवा करना आदि। गृहस्थ का कर्त्तव्य है—अर्थार्जन करना, घर की व्यवस्था को ठीक रखना, पुत्र आदि की शादी करना, माता-पिता आदि की सेवा करना। हर आदमी को अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरुक रहना चाहिए, किन्तु कर्त्तव्य के साथ फलाकांक्षा नहीं होनी चाहिए। गीताकार ने ठीक कहा कि आदमी नियत कर्म करे। उसमें आकांक्षा और आसक्ति का त्याग होना चाहिए। वह सात्त्विक त्याग होता है।

१७

आसक्ति त्यागो

हमारी दुनिया में अनेक प्रकार की शक्तियां हैं। धन की भी शक्ति होती है, तन की भी शक्ति होती है, मन की भी शक्ति होती है और आत्मा की भी शक्ति होती है। आत्म-शक्ति तभी प्राप्त हो सकती है, जब आदमी में त्याग या संयम की चेतना जाग जाती है। उस एक शक्ति के आधार पर आदमी कठोरता को भी झेलने में सक्षम हो सकता है। प्रश्न हुआ कि त्याग किस चीज का किया जाए? समाधान मिला—जो भी भौतिक चीजें हैं, सांसारिक चीजें हैं, इन्द्रिय-विषयों से जुड़ी हुई चीजें हैं और एक शब्द में कहें तो आसक्ति का त्याग करना चाहिए। श्रीकृष्ण त्याग के बारे में बताते हुए कहते हैं—

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।।१८/११।।

किसी भी देहधारी प्राणी के लिए कर्म का पूर्ण त्याग कर देना असंभव है, परन्तु जो कर्म के फल को त्याग देता है, वही त्यागी कहलाता है।

प्रत्येक प्राणी शरीरधारी होता है। शरीर को चलाने के लिए आदमी को प्रवृत्ति भी करनी पड़ती है। कोई व्यक्ति पूर्ण रूप से प्रवृत्ति को छोड़ दे, यह संभव नहीं है। कोई यह निश्चय कर ले कि यह शरीर अब मेरी साधना में साधक नहीं बन रहा है, इसलिए मुझे अब इस शरीर को टिकाना नहीं है, ऐसे व्यक्ति के लिए तो फिर भी कुछ अंशों में प्रवृत्ति को छोड़ना संभव हो सकता है, किन्तु सामान्यतया हर प्राणी को जीवन चलाने के लिए प्रवृत्ति करनी पड़ती है। एक ओर प्रवृत्ति के बिना जीवन चलता नहीं और दूसरी ओर प्रवृत्ति होती है तो कर्म-बन्धन भी होता है। फिर इन दोनों में सामंजस्य कैसे स्थापित किया जाए? गीताकार ने एक मध्यम मार्ग बताया कि प्रवृत्ति को यदि तुम न भी छोड़ सको तो

कम से कम कर्म के भौतिक फल की आकांक्षा का त्याग कर दो यानी कर्म करते हुए भी अनासक्त रहो। यह अनासक्ति यदि तुम्हारे जीवन में है और कर्मफल का त्याग तुम्हारे जीवन में है तो तुम त्यागी कहलाने के अधिकारी बन सकते हो। दसवेआलियं सूत्र में कहा गया कि पराधीनता के कारण जो आदमी भोग न कर सके अर्थात् अभाव के कारण जो अभोगी बना हुआ है, वह त्यागी नहीं होता। त्यागी वह होता है, जो स्वाधीनता में है, भोग भोगने में समर्थ है, फिर भी भोग नहीं भोगता, अपने मन से त्याग कर देता है। संसार में जीनेवाला व्यक्ति प्रवृत्ति से मुक्त नहीं हो सकता, परन्तु आसक्ति से मुक्त हो सकता है। गार्हस्थ्य में रहते हुए भी आदमी कुछ अंशों में संत जैसा जीवन जी सकता है। बशर्ते कि वह खाने में, रहने में, कपड़ों में, परिवार में अनासक्ति रखे। ऐसे अनासक्त लोगों को गृहस्थ संन्यासी भी कहा जाता है। गृहस्थ होते हुए भी संन्यासी जैसा जीवन जीनेवाले महान् साधक होते हैं। भगवान् राम ने कितनी अनासक्ति का प्रयोग किया। संस्कृत साहित्य में कहा गया—

आहूतस्याभिषेकाय, विसृष्टस्य वनाय च।
न लक्षितो मया तस्य, स्वल्पोप्याकारविभ्रमः।।

महाराज दशरथ ने कहा—राज्याभिषेक के लिए बुलाने पर और वन में भेज देने पर, इन दोनों परिस्थितियों में मैंने राम के चेहरे पर थोड़ा भी अन्तर नहीं देखा।

श्रीराम में समता की साधना थी, इसलिए राज्याभिषेक के प्रसंग पर ज्यादा खुशी नहीं हुई और वनवास के आदेश पर मन में दुःख नहीं हुआ। अनासक्ति का अभ्यास साधना का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। आसक्ति एक दलदल है और अनासक्ति उस दलदल में खिले हुए कमल के समान है। सामान्यतया गृहस्थ के लिए परिवार को छोड़ना संभव नहीं होता। सब कुछ करते हुए, परिवार में रहते हुए भी अनासक्ति का अभ्यास किया जा सकता है। यद्यपि सबमें आसक्ति एक समान नहीं होती और सबमें अनासक्ति भी एक समान नहीं होती, परन्तु लक्ष्य अनासक्ति का रहे। अनासक्त अवस्था में जितना आनंद आता है, जितनी भीतर से शांति मिलती है, आसक्ति के कीचड़ में वह आनन्द नहीं मिल सकता। एक कार्य को अनासक्त भाव से भी किया जा सकता है और उसी कार्य को आसक्ति के साथ भी सम्पन्न किया जा सकता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया कि ये काम-भोग अनासक्ति या समता को

पैदा करनेवाले भी नहीं होते और न ही आसक्ति या विकृति को पैदा करते हैं, परन्तु जो आदमी राग-द्वेष की वृत्तिवाला है वह अपने मोह के कारण आसक्ति में चला जाता है। पदार्थों में ताकत नहीं है कि आदमी को आसक्त बना दे। आदमी की वृत्ति या मोहकर्म ही आदमी को आसक्ति में ले जानेवाला होता है। हमारा मोहकर्म जितना पतला होगा, हम उतना ही अनासक्ति के भाव को पुष्ट कर सकेंगे। आदमी की आसक्ति पुष्ट न हो इसके लिए अपेक्षा है कि व्यक्ति विषय-भोगों के बारे में चिन्तन ही न करे। वह जितना चिन्तन करेगा उतना ही आसक्ति की दिशा में आगे बढ़ेगा। एक सामान्य प्रिय व्यवहार होता है और एक तीव्र आसक्ति होती है। सांसारिक प्राणी को सामान्य प्रिय व्यवहार तो करना पड़ता है, परस्पर स्नेह का संबंध होता है, परन्तु उसमें तीव्र आसक्ति न हो, यह ध्यान रखना चाहिए। आदमी ज्यों-ज्यों तत्त्वविद्या का अध्ययन करेगा, धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ेगा, स्वाध्याय करेगा तो आसक्ति को कम होने का मौका मिलेगा और गीताकार के अनुसार वह अनासक्त व्यक्ति त्यागी कहलाने का अधिकारी बन सकता है।

१८

सम्यक्ज्ञानी बनो

ज्ञान को साधना का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि तुम ज्ञान रूपी नौका में बैठकर इस पाप रूपी सागर से पार पहुंच सकते हो। ज्ञान के द्वारा अज्ञान रूपी अंधकार को दूर किया जा सकता है। गीता में ज्ञान के तीन प्रकार बताए गए हैं—सात्त्विक ज्ञान, राजस ज्ञान और तामस ज्ञान। इनके अतिरिक्त ज्ञान के अनेक प्रकार हो सकते हैं। ज्ञान, ज्ञान में भी बड़ा अन्तर होता है। अध्यात्मविद्या का ज्ञान सात्त्विक ज्ञान है।

गीता में सात्त्विक ज्ञान की महिमा बताते हुए कहा गया है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।।१८/२०।।

जिस ज्ञान के द्वारा सब वस्तुओं और प्राणियों में एक ही अनश्वर सत्ता दिखाई पड़ती है, जो विभक्तों में भी अविभक्त रूप में विद्यमान है, उस ज्ञान को तू सात्त्विक ज्ञान समझ।

गीताकार ने आत्मौपम्य की भाषा में कहा है कि सभी प्राणियों में एक धारा है, एक भाव है, एक अविनाशी तत्त्व है। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा नाम का तत्त्व है, जिसका लक्षण चैतन्य है। वह आत्मा सभी प्राणियों में एक समान है। आत्मा अपने आपमें अमूर्त्त है। हर आत्मा के असंख्य प्रदेश होते हैं। जिस प्रकार मैं जीना चाहता हूं, वैसे ही दूसरे प्राणी भी जीना चाहते हैं। फिर मैं दूसरे के प्राणों का वध क्यों करूं? इस प्रकार का ज्ञान करने का मतलब अहिंसा की भावना को विकसित करना है। हालांकि अनिवार्य हिंसा तो करनी पड़ती है। हिंसा के बिना काम नहीं चलता। एक गृहस्थ के खाने में भी हिंसा, पीने में भी हिंसा व अन्य क्रिया-कलापों में भी हिंसा होती है। सर्वथा हिंसा से बचना एक

गृहस्थ के लिए संभव नहीं है और न प्रायः साधु के लिए भी संभव है। चाहे द्रव्य हिंसा ही हो, किन्तु हिंसा तो होती ही है। जैसे एक साधु देहचिन्ता की निवृत्ति के लिए जंगल में जाता है और मार्ग में वर्षा हो जाती है तो अप्काय के जीवों की हिंसा होने की संभावना रहती है, परन्तु शौच के लिए जाना भी अनिवार्य है। वह हिंसा एक तरह से अपरिहार्य हिंसा कही जा सकती है। कभी-कभी शौच आदि के लिए जाते समय हरियाली के ऊपर भी पैर रखना पड़ सकता है। हालांकि पैर थोड़ा-सा भी ज्यादा न टिके, इस बात की जागरूकता रखी जाती है, फिर भी वह हिंसा है। हिंसा केवल सामान्य साधु से ही नहीं, वीतराग केवली से भी हो सकती है।

जैन वाङ्मय में हिंसा-अहिंसा पर विशद विवेचना की गई है। निश्चयनय की भाषा में आत्मा ही अहिंसा है और आत्मा ही हिंसा है। जो व्यक्ति अप्रमत्त है वह अहिंसक है, फिर चाहे उसके पैर से कोई जीव मर भी क्यों न जाए। जो व्यक्ति प्रमत्त है, वह हिंसक है, भले कोई जीव उसके पैर से न भी मरे। एक साधु बिना ईर्या समिति के अर्थात् बिना देखे प्रमाद की अवस्था में चलता है और उसके पैर के नीचे आकर कोई जीव नहीं मरता, परन्तु साधु अपने आपमें प्रमादी था, इसलिए वह हिंसक हो गया। एक साधु अप्रमत्त अवस्था में है और कोई जीव अकस्मात् उसके पैर के नीचे आकर मर जाता है तो उस हिंसा का पाप साधु को नहीं लगता, क्योंकि वह अपने आपमें अप्रमत्त था। इसलिए हम गहराई से विचार करें तो हिंसा और अहिंसा का संबंध प्रमाद और अप्रमाद के साथ है।

गीताकार ने ठीक कहा है कि सभी प्राणियों में एक समान चेतना की धारा प्रवाहित हो रही है। भले ही गीता में आत्मा को परमात्मा के अंश के रूप में माना हो, पर जैनदृष्टि से इस रूप में तुलना हो सकती है कि एक समान चेतना की धारा सभी प्राणियों में है। इस बात का ज्ञान अपने आपमें सात्त्विक ज्ञान होता है। गीता में ज्ञान को सबसे ज्यादा पवित्र कहा गया है। इसका मतलब यही है कि अध्यात्मविद्या का ज्ञान सबसे पवित्र होता है।

हमारे मन में प्राणियों के प्रति समता की भावना और आत्मतुला की भावना उजागर हो, यह ज्ञान सात्त्विक प्रकृति का, सात्त्विक स्तर का ज्ञान होता है। हमारे भीतर काम, क्रोध, राग, द्वेष, मद, मोह आदि वृत्तियां जब प्रबल होती हैं, तब हम हिंसा में चले जाते हैं। ज्यों-ज्यों प्राणियों के प्रति समता की भावना पुष्ट होती है, आत्मवत् चेतना जागती है, त्यों-त्यों आदमी अहिंसा की ओर

अग्रसर हो जाता है। हमारे भीतर अहिंसा की चेतना जागे, सभी प्राणियों के प्रति मैत्री की चेतना जागे। जैसे मेरे भीतर प्राण हैं, वैसे ही दूसरे प्राणियों के भीतर भी प्राण हैं, यह चेतना जागे। हालांकि प्राण की संख्या किसी में कम, किसी में ज्यादा हो सकती है। जैनदर्शन में दस प्राण बताए गए हैं। सब प्राणियों में दस प्राण नहीं होते। छोटे जंतुओं में कम प्राण होते हैं।

एकेन्द्रिय में चार प्राण होते हैं।

द्वीन्द्रिय में छह प्राण होते हैं।

त्रीन्द्रिय में सात प्राण होते हैं।

चतुरिन्द्रिय में आठ प्राण होते हैं।

असंज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय में नौ प्राण होते हैं।

संज्ञी पंचेन्द्रिय में दस प्राण होते हैं।

किन्तु चेतना सबमें समान होती है। अतः उनके प्राणों का वध करने से यथासंभव बचने का प्रयास करना चाहिए। यह अहिंसा की चेतना उस ज्ञान से जागती है, जो ज्ञान हमें आत्मतुला का बोध करानेवाला होता है। दुनिया में बहुत-से ऐसे लोग हैं, जो हिंसा में निरत हैं, जो आदमी की हत्या करने में भी संकोच नहीं करते। दुनिया में ऐसे भी बहुत-से लोग हैं, जिनके मन में अहिंसा के प्रति निष्ठा है। वे अहिंसा के लिए अपने प्राणों की भी बाजी लगा देते हैं। यह बहुत अच्छा चिन्तन है कि मेरे प्राण भले चले जाएं, पर मेरे कारण दूसरे के प्राण नहीं जाने चाहिए। साधु भी कभी ऐसा अवसर आने पर यह सोचे कि मेरे प्राण भले चले जाएं, पर मैं कभी दूसरों की हत्या का कारण न बनूं।

जैन वाङ्मय में मेतार्य मुनि का उदाहरण मिलता है। एक बार मेतार्य मुनि विहार करते हुए राजगृही आए। मासखमण के पारणे के लिए भिक्षा हेतु निकले और अनायास ही एक सुनार के यहां पहुंच गए। सुनार उस समय राजा के आदेश से सोने के यव बना रहा था। मुनि को देखते ही उस सुनार ने अपने भाग्य को सराहा और काम ज्यों का त्यों छोड़कर भिक्षा योग्य वस्तु लेने घर के अन्दर चला गया। इतने में एक क्रौंच पक्षी वहां आया और सोने के यवों को अनाज के यव समझकर निगल गया। सुनार भिक्षा लेकर आया तो सोने के यव गायब थे। उसने मुनिश्री से पूछा। मुनिश्री ने मन में सोचा—यदि मैं सच बोलता हूं तो यह सुनार पक्षी को मार देगा और मैं प्राणिवध का निमित्त बन जाऊंगा। यदि सावद्य

वचन बोलूं तो मेरा सत्य महाव्रत भंग हो जाएगा। दोनों तरह से पाप लगेगा। यह सोचकर मुनिश्री मौन हो गए। उन्होंने कुछ भी नहीं कहा।

सुनार ने बार-बार मेतार्य मुनि से यवों के बारे में पूछा। लेकिन जब उसे कोई उत्तर न मिला तो वह क्रोधित हो उठा। उसने समझ लिया कि इस ढोंगी मुनि ने ही स्वर्ण यव चुराए हैं। क्रोध में बेभान होकर उसने मुनि को पकड़ा और उनके मस्तक पर गीले चमड़े की पट्टी बांधकर घर के आंगन में धूप में खड़ा कर दिया। धूप के कारण ज्यों-ज्यों गीला चमड़ा सूखा, उसका कसाव बढ़ता गया। मुनि को असह्य वेदना हुई। फिर भी वे समताभाव में लीन रहे। परिणाम स्वरूप उनके समस्त कर्म क्षय हो गए। वे देह त्यागकर सिद्धशिला में विराजमान हो गए।

उसी समय एक लकड़हारा सुनार के घर आया। उसने लकड़ियों का गट्ठर जोर से जमीन पर पटका। गट्ठर गिरने की आवाज से भयभीत होकर क्रौंच ने विष्ठा कर दी। सोने के यव विष्ठा के साथ निकल आए। उन्हें देखकर स्वर्णकार भयभीत हो उठा। उसने मुनि के पास जाकर देखा तो उनका शव ही वहां था। स्वर्णकार को बहुत पश्चात्ताप हुआ। वह श्रमण भगवान् महावीर की शरण में पहुंचा और निष्कपट हृदय से अपने घोर पाप की आलोचना, गर्हणा की। वह प्रायश्चित्त करके शुद्ध हुआ और पंचमहाव्रत धारणकर सद्गति को प्राप्त हुआ।

मेतार्य मुनि में कितनी बड़ी आत्मतुला की भावना थी। उन्होंने अपने प्राण छोड़ दिए, किन्तु दूसरे प्राणी के प्राण नहीं जाने दिए। जिस व्यक्ति में जितनी निष्ठा हो, संकल्प का बल हो, उसके अनुसार अहिंसा की साधना हो सकती है। हमारी चेतना अहिंसा और समता से ओतःप्रोत हो जाए तो फिर अहिंसा हमारे जीवन का, हमारी आत्मा का अंगभूत या आत्ममय बन जाएगी। यह भावना उसी ज्ञान से पैदा हो सकती है, जो सात्त्विक होता है। हम आध्यात्मिक व सात्त्विक ज्ञान के द्वारा अहिंसा, समता आदि को समझने और उन्हें आत्मसात् करने का अभ्यास करें।

सात्त्विक ज्ञान में सभी प्राणियों में एक समान तत्त्व की अवबुद्धि होती है और राजस ज्ञान में पृथक्ता का बोध होता है। गीताकार ने कहा—

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्।।१८/२१।।

जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतों में भिन्न-भिन्न प्रकार के नाना भावों

को अलग-अलग जानता है। उस ज्ञान को राजसिक समझना चाहिए।

जिस ज्ञान से एकात्मकता का अनुभव नहीं होता, जिस ज्ञान के साथ राग-द्वेष का भाव जुड़ जाता है, अच्छे के प्रति राग और बुरे के प्रति द्वेष होता है, जिसमें यथार्थ ज्ञान का अभाव होता है, पूर्ण शुद्धता में कुछ कमी होती है, वह राजस ज्ञान होता है। शुद्ध ज्ञान का मतलब है केवल वस्तु को जानना। उसमें राग-द्वेष नहीं करना, यथार्थ बोध करना, यह सात्त्विक ज्ञान की कोटि में आनेवाला ज्ञान है। आदमी यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयास करे। अगर आदमी मिथ्या ज्ञान और मिथ्या श्रद्धा में चला जाता है तो जैनदर्शन के अनुसार उसमें मिथ्यादर्शन आ जाता है और वह मिथ्यात्व का भागी बन जाता है, जैसे—

- साधु को असाधु मान लेना और असाधु को साधु मान लेना।
- मार्ग को कुमार्ग मान लेना और कुमार्ग को मार्ग मान लेना।
- जीव को अजीव मान लेना और अजीव को जीव मान लेना।
- मुक्त को अमुक्त मान लेना और अमुक्त को मुक्त मान लेना।
- धर्म को अधर्म मान लेना और अधर्म को धर्म मान लेना।

साधक यह सोचे कि मेरा ज्ञान सम्यक् होना चाहिए। यदि ज्ञान सम्यक् है तो मेरा आचार भी सम्यक् होगा। यदि ज्ञान मिथ्या है तो आचार भी सम्यक् होने में कठिनाई पैदा हो जाएगी। जहां गीता में ज्ञान के तीन भेद किए गए हैं, वहीं जैन वाङ्मय में दो भेद किए गए हैं—ज्ञान और अज्ञान। अज्ञान का मतलब ज्ञान का अभाव नहीं, अपितु कुत्सित ज्ञान है, मिथ्यात्व से जुड़ा हुआ ज्ञान है, इसलिए उस ज्ञान की संज्ञा भी अज्ञान कर दी गई। गीता के साथ तुलना की जाए तो जो सम्यक् ज्ञान है, वह सात्त्विक ज्ञान की कोटि में आ जाता है और जो अज्ञान है, उसे राजस ज्ञान और तामस ज्ञान की कोटि में स्तर के अनुसार समाविष्ट किया जा सकता है। गीता में राजस ज्ञान भी ज्ञान की कोटि में है, परन्तु वह उत्तम कोटि का ज्ञान नहीं है, वह मध्यम कोटि का ज्ञान है। हम मध्यम कोटि से ऊपर उठने का प्रयास करें। हमारा ज्ञान उच्च कोटि का होना चाहिए। सात्त्विक ज्ञान से हमारा जीवन आलोकित हो जाए। वह हमारे जीवन को सदाचार की सौरभ से सुरभित करने में सक्षम बन सकता है।

तामस ज्ञान के बारे में गीताकार कहते हैं—

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्।।१८/२२।।

जो ज्ञान किसी एक कार्य को ही सब कुछ मान लेता है, उसके कारण का कोई ध्यान नहीं रखता, तत्त्वार्थ को नहीं समझ पाता और जो संकीर्ण है, वह तामसिक ढंग का ज्ञान कहलाता है।

एक ऐसा ज्ञान, जो शरीरपरक है, शरीर में आसक्त होना सिखाता है, तत्त्व का ठीक बोध नहीं कराता, ऐसा तुच्छ ज्ञान तामस ज्ञान होता है। राजा प्रदेशी का ज्ञान प्रारम्भ में तामस ज्ञान था, क्योंकि वह शरीर और आत्मा को एक मानता था। वह नास्तिक विचारधारा का व्यक्ति था और नास्तिकता के सिद्धांत को सिद्ध करने का प्रयास करता था। कुमारश्रमण केशी आस्तिकवादी और भगवान् पार्श्व की परम्परा के आचार्य थे। राजा प्रदेशी भी तार्किक व्यक्ति था और कुमारश्रमण केशी भी प्रबुद्ध आचार्य थे। एक बार कुमारश्रमण केशी के साथ राजा प्रदेशी का संवाद हुआ।

राजा प्रदेशी—हे भदन्त! यदि आप यह मानते हैं कि जीव भिन्न है और शरीर भिन्न है तो मैं इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हूं, क्योंकि मेरे दादा पक्के अधार्मिक व्यक्ति थे। वे धर्म-कर्म कुछ नहीं मानते थे। आपके सिद्धांत के अनुसार वे मरकर नरक में गए होंगे। अगर मेरे दादा आकर मुझे यह कह दें कि पौत्र! पाप करने से नरक में जाना पड़ता है। मैंने पाप किया इसलिए नरक में जाना पड़ा, किन्तु तुम पाप मत करना। तब मैं आपकी बात को मान सकता हूं।

कुमारश्रमण केशी—हे प्रदेशी! तुम अपनी पत्नी सूर्यकान्ता को किसी पुरुष के साथ भोग भोगते हुए देख लो तो उसे क्या दंड दोगे?

राजा प्रदेशी—मैं उसे जीवन रहित कर दूंगा।

कुमारश्रमण केशी—प्रदेशी! यदि वह पुरुष तुमसे अनुनय विनयपूर्वक यह कहे कि हे स्वामिन्! आप कुछ समय रुक जाओ। मैं अपने ज्ञातिजनों को यह बताकर आ जाऊं कि इस प्रकार के पापकर्मों का यह दण्ड भोगना पड़ता है, इसलिए तुम लोग ऐसा काम मत करना। हे प्रदेशी! क्या तुम उस पुरुष की बात मानोगे?

राजा प्रदेशी—हे भदन्त! मैं उसकी बात नहीं मानूंगा।

कुमारश्रमण केशी—हे प्रदेशी! तुम्हारे दादा भी यहां आना चाहते हैं, किन्तु आने में समर्थ नहीं हैं।

राजा प्रदेशी—हे भदन्त! मेरी दादी बड़ी धार्मिक महिला थी। वह बहुत साधना करती थी। आपके सिद्धान्त के अनुसार वह मरकर स्वर्ग में गई है। वह

दादी मुझे आकर कह दे कि हे पौत्र! मैंने धर्म किया इसलिए मैं स्वर्ग में हूं। तुम भी धर्म करना, स्वर्ग में आ जाओगे। तब मैं आपकी बात मान सकता हूं कि आत्मा अलग है, शरीर अलग है।

कुमारश्रमण केशी ने राजा प्रदेशी की इस बात का भी उत्तर दिया। उन्होंने कहा—हे प्रदेशी! तुम कल्पना करो कि तुम स्नान आदि से निवृत्त होकर पूजा करने के लिए मंदिर की ओर जा रहे हो। बीच में कोई पुरुष शौचालय में खड़ा होकर यह कहे कि हे स्वामिन्! कुछ देर आप यहां रुकें। तो क्या आप वहां जाएंगे?

राजा प्रदेशी—नहीं, मैं वहां बिल्कुल नहीं जाऊंगा।

कुमारश्रमण केशी—प्रदेशी! तुम्हारी दादी शुद्ध स्थान में है और यह मनुष्यलोक तो अशुद्ध स्थान है। इस गंदगी के कारण वह यहां नहीं आ सकती। राजा प्रदेशी और कुमारश्रमण केशी के बीच अनेक प्रकार के संवाद हुए। आखिर राजा प्रदेशी ने कहा—हे भदन्त! मैं आपकी बात समझ गया कि आत्मा अलग है और शरीर अलग है, परन्तु कुल परम्परा से चली आ रही नास्तिकवाद की मान्यता को कैसे छोड़ूं?

कुमारश्रमण केशी—चार वणिक् व्यापार करने के लिए जा रहे थे। रास्ते में लोहे की खान आ गई। उन चारों ने लोहा इकट्ठा कर लिया और पोटलियां बांध कर आगे चले। फिर उन्हें सीसे की खान मिली। चारों में से तीन ने लोहे को छोड़कर सीसे को ले लिया, किन्तु चौथे व्यक्ति ने कहा—मैंने तो एक बार ले लिया सो ले लिया, अब मैं लोहे को नहीं छोड़ूंगा। वे चारों आगे बढ़ते गए और उन्हें तांबें, चांदी, सोने, रत्नों और हीरों की खानें मिलीं। उन तीनों को जैसे-जैसे बहुमूल्य वस्तुएं मिलीं, वे अल्पमूल्यवाली वस्तुओं को छोड़ते गए और मूल्यवान वस्तुओं को ग्रहण करते गए। उस चौथे साथी को बहुत समझाया गया, किन्तु उसने अपना दुराग्रह नहीं छोड़ा। वह लोहा लेकर अपने घर पहुंचा। वे तीन तो बहुत धनवान हो गए, किन्तु वह एक साधारण स्थितिवाला ही रह गया। हे प्रदेशी! यदि तुम अपना दुराग्रह नहीं छोड़ोगे तो उस लोहभार को ढोनेवाले व्यक्ति की तरह तुम्हें भी पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इस प्रकार समझाने पर यथार्थ तत्त्वबोध प्राप्त कर राजा प्रदेशी ने कुमारश्रमण केशी को वंदना की और आस्तिकवाद को स्वीकार किया। कुमारश्रमण केशी से धर्मोपदेश सुनकर उसने श्रावक धर्म को स्वीकार किया।

गीता के तामस ज्ञान की जैन वाङ्मय के मिथ्याज्ञान के साथ तुलना की जा सकती है। उत्तराध्ययन सूत्र में जो अदर्शनी (असम्यक्त्वी) है यानी जिसके पास सम्यक् दर्शन नहीं है, उसको सम्यक् ज्ञान नहीं मिल सकता।

ज्ञानियों द्वारा जब यह बोध मिलता है कि आत्मा नाम का भी कोई तत्त्व है। वह शरीर में रहनेवाला है, स्थायी है, विनश्वर है, निरंजन है, निराकार है जबकि शरीर का अन्त होनेवाला है। तब हम सोचते हैं कि हमने तो शरीर को ही सब कुछ मान लिया था। मैंने तो जिन्दगी पाप में ही बिता दी, आत्मा पर ध्यान ही नहीं दिया। मैंने सुना है कि नरक होता है, स्वर्ग होता है, पता नहीं मुझे कौनसी गति मिलेगी, मुझे कहां जाना पड़ेगा? यह चिन्ता उस आदमी को हो सकती है जो जीवन में पुद्गल को सबकुछ माननेवाला या धर्म का आसेवन न करनेवाला होता है। जो कभी साधु-साध्वियों का सम्पर्क नहीं करता है, ज्ञान की बात नहीं सुनता है, ऐसे व्यक्ति को कभी जीवन के अन्तकाल में पश्चात्ताप करना पड़ सकता है कि मैंने तो जीवन ऐसे ही गंवा दिया, पापों में गंवा दिया, हिंसा में गंवा दिया, झूठ-कपट में गंवा दिया, चोरी आदि में गंवा दिया। अतः आदमी तत्त्वज्ञान को समझे। जिस कार्य के द्वारा आत्मा का हित हो सकता है वैसा कार्य करे। जीवन में त्याग, संयम को महत्त्व दे और मन पर नियंत्रण करने का प्रयास करे। ऐसा करनेवाला व्यक्ति तामस ज्ञान से मुक्ति प्राप्त कर सकता है और सात्त्विकज्ञानी बन सकता है। कुछ मार्गदर्शन मिल जाए, कुछ रास्ता मिल जाए तो आदमी को सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचार का पथ प्राप्त हो सकता है।

१९

निष्काम कर्म करो

श्रीमद्भगवद्गीता के अठारहवें अध्याय में तीन प्रकार के कर्म बताए गए हैं—सात्त्विक कर्म, राजस कर्म और तामस कर्म। निष्कांक्ष भाव से जो पवित्र कार्य किया जाता है, वह सात्त्विक कर्म है और जिसके साथ आसक्ति और अहंकार जुड़ जाता है, वह राजस कर्म हो जाता है।

जिस कर्म के साथ मोह का प्राबल्य होता है और हिंसा की भावना होती है, वह तामस कर्म होता है। सात्त्विक कर्म को परिभाषित करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते।।१८/२३।।

वह कर्म जिसे करना आवश्यक है, जिसे आसक्ति के बिना किया जाता है और जिसे राग-द्वेष से शून्य होकर फल की इच्छा से रहित व्यक्ति द्वारा किया जाता है, सात्त्विक कर्म कहलाता है।

जो कार्य पवित्र उद्देश्य के साथ किया जाता है, राग-द्वेष से मुक्त होकर किया जाता है और जिसके साथ कोई फलाकांक्षा जुड़ी हुई नहीं है, वह सात्त्विक कर्म होता है। यद्यपि फल मिलना अलग बात है, फल मिलने में आपत्ति नहीं है, किन्तु भौतिक फल की आकांक्षा नहीं रखनी चाहिए, यह हमारा सिद्धान्त है। शुभयोग से दो कार्य होते हैं—

१. पुराने पापकर्म कटते हैं।

२. पुण्य का बंध होता है।

प्रश्न हुआ कि दोनों में पहले कौनसा कर्म होता है और बाद में कौनसा कर्म होता है? राजस्थानी भाषा में समाधान दिया गया कि पेली पानड़ा, पछै

धानड़ा। जिस प्रकार पहले पत्ते आते हैं बाद में अनाज होता है, उसी प्रकार पहले पुण्य का बंध होता है फिर निर्जरा होती है। यद्यपि निर्जरा और पुण्य दोनों का प्रारम्भ एक साथ हो जाता है, परन्तु पुण्य तो बहुत जल्दी बंध जाता है और निर्जरा की प्रक्रिया को थोड़ा समय लगता है इसलिए पुण्य पहले और निर्जरा बाद में होती है।

मनुष्य विचार करे कि मेरे द्वारा जो कार्य किए जाते हैं, वे सात्त्विक कोटि के हैं या किसी अन्य कोटि के हैं। हम अपने कार्यों को सात्त्विक कोटि के बना सकते हैं बशर्ते कि फलाकांक्षा न रखें, राग-द्वेष मुक्त होकर काम करें, आसक्ति छोड़ दें और करणीय कार्य करें।

राजस कर्म के बारे में बताया गया—

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्।।१८/२४।।

जो कर्म फल प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति द्वारा बड़े परिश्रमपूर्वक या अहंकार की भावना से प्रेरित होकर किया जाता है, वह राजसिक कर्म कहलाता है।

राजस कर्म करनेवाला व्यक्ति श्रम करता है, परंतु उसके कार्य के साथ कामना और अहंकार जैसी कुछ अपवित्रता जुड़ जाती है। जहां भौतिक फलाकांक्षा का भाव आ जाता है, वहां कर्म की शुद्धि में कमी आ जाती है। कर्म करनेवाला व्यक्ति फलाकांक्षा से बचे। कभी पवित्र कार्य के साथ भी कामना जुड़ सकती है। जिस प्रकार सेवा-भक्ति का कार्य होता है, परन्तु जब कामना तीव्र हो जाती है, तब फिर सेवा-भक्ति गौण हो जाती है और अपनी कामना को पूरा करना मुख्य उद्देश्य हो जाता है। समाज में लोग सेवा करते हैं। अनेक लोग पशुओं की भी सेवा करते हैं, गरीब मनुष्यों की सेवा करते हैं, दुःखियों की सेवा करते हैं। सेवा करना लौकिक धर्म माना गया है। उसमें यदि अहंकार आ जाता है या दिखावे की भावना आ जाती है और साथ में कामना भी जुड़ जाती है तो सेवा में थोड़ी अशुद्धि आ जाती है। जो लौकिक कर्त्तव्य हैं, उनमें भी अहंकार न आए, भौतिक आकांक्षा न जागे, यह ध्यान रखा जाए तो लौकिक कार्यों में भी अपने ढंग की पवित्रता बनी रह सकती है। साधक लोग साधना, तपस्या करते हैं, उसमें भी अहंकार या कामना जुड़ जाए तो तपस्या और साधना को वह कुछ कमजोर करनेवाली और मलिनता की ओर ले जानेवाली होती है।

उत्तराध्ययन सूत्र में भी निर्देश मिलता है कि हम समता में रहें, विषमता में न जाएं। लाभ-अलाभ, निंदा-प्रशंसा कुछ भी मिले, हम समता में रहें, अहंकार में न जाएं, कामनाओं में न जाएं, निष्काम रहें। राग-द्वेष का भाव हमारी साधना को मंद बनानेवाला होता है। भारत भूमि पर अनेक ऋषि, महर्षि हुए हैं। उन्होंने तपस्याएं की हैं, साधनाएं की हैं, किन्तु जहां वे कामना में फंस गए, राग-द्वेष में चले गए, वहां उनकी तपस्या और साधना में कुछ कमी आ गई।

आदमी अहंकार-रहित और कामना-रहित होकर श्रमनिष्ठा के साथ कर्म करे।

तामस कर्म के बारे में गीताकार ने कहा—

अनुबंधं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते।।१८/२५।।

जो कर्म अज्ञान के कारण हानि या हिंसा का विचार किए बिना और मानवीय क्षमता का विचार किए बिना किया जाता है, वह तामसिक कर्म कहलाता है।

जिस कर्म के साथ मोह-भाव जुड़ जाता है, जिसमें न हिंसा की परवाह है, न आदमी विवेक रखता है, वह तामस कर्म होता है। हमें उत्तराध्ययन सूत्र में भी पवित्र कार्य करने का और सरलता रखने का उपदेश प्राप्त होता है। वहां बताया गया है कि जिस आदमी के जीवन में धर्म होता है, वह निर्वाण को प्राप्त कर सकता है। धर्म उसके जीवन में ठहरता है जो शुद्ध होता है, सरल होता है। जहां ऋजुता है, वहां शुद्धता है। गीताकार ने जिसे तामस कर्म कहा है, हम उत्तराध्ययन सूत्र के संदर्भ में विचार करें तो जहां ऋजुता नहीं है, वहां हिंसा है, वह कर्म अपवित्र होता है और तामस कर्म की संज्ञा को प्राप्त हो जाता है। जहां रागद्वेष का प्राबल्य है, वहां मोह की उग्रता है और जहां मोह नहीं है, वहां समता का साम्राज्य होता है। आदमी मोह से बचने का प्रयास करे। मोह से बचने के लिए और अमोह की साधना करने के लिए आदमी अपने जीवन में धर्म को स्थान दे। यदि आदमी धर्म की अवमानना करता है तो उसकी स्वयं की अवमानना हो सकती है। आदमी धर्म की रक्षा करे तो धर्म भी आदमी की रक्षा कर सकता है। इसलिए आदमी अपने जीवन में उस धर्म को स्थान दे, जो धर्म कल्याणकारी है।

गीताकार के अनुसार तामस कर्म वह होता है, जिसमें हिंसा, मोह का भाव

जुड़ा रहता है और जहां विवेक नहीं होता। हमारे जीवन में विवेक एक बड़ी संपदा है। विवेक को धर्म कहा गया। आदमी खाने का विवेक रखे, बोलने का विवेक रखे, व्यवहार में विवेक रखे। विवेक की चेतना जाग जाए तो आदमी के कर्म से तामसता कम हो सकती है, समाप्त हो सकती है। तामस कर्म हमारी आत्मा को दूषित करनेवाला होता है, प्रदूषित करनेवाला होता है, इसलिए हमें कर्म की तामसता से अपने आपको बचाने का प्रयास करना चाहिए।

२०

अप्रमत्तकर्ता बनो

व्याकरण शास्त्र में भाषा की दृष्टि से कर्ता, कर्म, क्रिया महत्त्वपूर्ण शब्द हैं। भले संस्कृत व्याकरण हो, हिन्दी व्याकरण हो या इंग्लिश ग्रामर हो, सबमें कर्ता का बड़ा महत्त्व होता है। कर्ता के अनुसार क्रिया चलती है। जैसे आदमी जाता है और महिला जाती है। कर्ता पुल्लिंग है तो क्रिया पुल्लिंग की होती है और कर्ता स्त्रीलिंग है तो क्रिया भी स्त्रीलिंग की होती है। इसी तरह बालक जाता है और अनेक बालक जाते हैं। कर्ता एकवचन है तो क्रिया भी एकवचन की होती है और कर्ता बहुवचन है तो क्रिया भी बहुवचन की होती है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार तो कर्ता से भी महत्त्वपूर्ण स्थान है प्रधान का। प्रधान कर्ता भी हो सकता है तो प्रधान कर्म भी हो सकता है। जहां कर्म प्रधान होता है, वहां क्रिया कर्म के अनुसार चलती है, जैसे—बालकेन फलं भुज्यते। जहां कर्ता की प्रधानता होती है, वहां कर्ता के अनुसार क्रिया चलती है, जैसे—बालकः फलं भुङ्क्ते। खैर यह तो व्याकरण की बात है, किन्तु मेरे कथन का तात्पर्य है कि कर्ता का भी महत्त्व होता है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार कर्ता तीन तरह के होते हैं—सात्त्विक कर्ता, राजस कर्ता, तामस कर्ता। सात्त्विक कर्ता को परिभाषित करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते।।१८/२६।।

जो कर्ता आसक्ति से रहित है, जो अहंकारपूर्ण बातें नहीं करता, जो धैर्य और उत्साह से युक्त है और जो सफलता और विफलता द्वारा विचलित नहीं होता, वह सात्त्विक कर्ता कहा जाता है।

सात्त्विक कर्ता राग, मोह, आसक्ति से मुक्त होता है और कर्त्तव्य भाव से

कार्य करनेवाला होता है। आदमी में अहंकार न हो। कुछ लोग बड़ी अहंकार की भाषा बोलते हैं। कभी-कभी जिन्दगी में ऐसे दिन भी आ सकते हैं कि फिर कभी अहंकार करने का मौका ही नहीं मिलता। चाहे धन का प्रसंग हो या सत्ता का प्रसंग हो अथवा कोई अन्य प्रसंग हो। इनका अहंकार करनेवाला व्यक्ति कभी सड़क पर भी आ सकता है। मैंने अपने जीवन के अल्पकाल में भी देखा कि जिस व्यक्ति के मानो पत्थर तैरते थे, वह व्यक्ति भी कभी डूब गया यानी काफी नीचे आ गया। गीताकार ने ठीक कहा कि अहंकार की भाषा मत बोलो। जो तुम्हारे पास है, उसका दुरुपयोग मत करो, सदुपयोग करो। अहंकार की भाषा बोलनेवाला कभी-कभी फंस जाता है। एक सेठ बहुत अच्छे कपड़े पहने हुए था। कुछ लोग आए और बोले—सेठ साहब! हमने सुना है कि आपके लड़का है।

सेठ—हां, है।

आगन्तुक व्यक्ति—हमारे लड़की है। दोनों का संबंध हो जाए तो अच्छा रहेगा। इसमें आपका क्या चिन्तन है?

सेठ—चिन्तन की बात क्या बताऊं? संक्षेप में इतनी बात अभी बता देता हूं कि पांच करोड़ का दहेज देनेवाले तो मेरे पास पहले से ही आ चुके हैं, इससे ऊपर की स्थिति हो तो बात करो। देखिए, मेरा कितना बड़ा व्यापार है। सेठ भावुकता में आ गया। अपनी संपत्ति बताने के लिए खाते दिखाने लगा। उन लोगों ने तत्काल सब खातों को जब्त कर लिया और कहा—हमें किसी की शादी नहीं करनी है। हम तो रेड डालनेवाले लोग हैं। सेठ के अहंकार ने ही उसे फंसा दिया।

जो धैर्यवान होता है, वह कर्ता सात्त्विक होता है। आदमी अधीरता में न जाए, हर स्थिति को समझे, शांति रखे, धीरज से काम ले। धीरे-धीरे शांति से समझकर काम करनेवाला व्यक्ति सफल हो सकता है। यदि आदमी धैर्य को छोड़ देता है तो कई बार कठिनाई में भी पड़ जाता है। जल्दबाजी में, आवेश में आकर कोई निर्णय नहीं लेना चाहिए। धैर्यपूर्वक, समझपूर्वक और चिन्तनपूर्वक निर्णय करना चाहिए। धृति के साथ कर्ता में उत्साह होना चाहिए। कार्य के प्रति, अध्यात्म के प्रति उत्साह का न होना प्रमाद होता है। आदमी प्रमाद में न रहे, अच्छे कार्यों के प्रति उत्साही बना रहे, ऐसा व्यक्ति सात्त्विक कर्ता की कोटि में आता है।

आदमी कार्य करता है। कार्य करने पर कभी उसे सफलता और कभी उसे असफलता भी मिल सकती है। सिद्धि और असिद्धि जो भी मिल जाए, उसमें आदमी को समता रखनी चाहिए और विकार, हर्ष व शोक में नहीं जाना चाहिए। कार्य करना एक बात है और होना दूसरी बात है। आप लोग व्यापार करते हैं, तब पहले सोचते हैं कि व्यापार कहां करें, किस चीज का करें, कब करें, कैसे करें ताकि हमें नफा हो। कार्य प्रारम्भ करने से पहले अच्छी तरह सोचना चाहिए, चिन्तनपूर्वक काम शुरू करना चाहिए। सोच-विचारपूर्वक शुरू किए गए कार्य से कभी नफा भी हो सकता है तो कभी घाटा भी हो सकता है। नफा-घाटा जो भी हो जाए, फिर उसमें मानसिक संतुलन बनाए रखना चाहिए। मस्तिष्क का, चिन्तन का यदि असंतुलन हो जाता है तो वह कभी-कभी डिप्रेशन तक की स्थिति पैदा कर सकता है। इसलिए गीताकार ने कहा कि सिद्धि में ज्यादा हर्ष नहीं करना चाहिए और असिद्धि में शोक नहीं करना चाहिए। हर्ष और शोक से बचकर आदमी समता में रहे, सहज प्रसन्न रहे, शांति में रहे, जो स्थिति आए उसे शांत भाव से देखे, किन्तु राग-द्वेष से बचने का प्रयास करे। जो आसक्ति रहित, अहंकार की भाषा न बोलनेवाला, धृति और उत्साह से युक्त, सफलता और असफलता में मानसिक संतुलन बनाए रखता है, वह व्यक्ति सात्त्विक कर्ता होता है।

वे कर्ता धन्य हैं, जो काम करते हैं, सेवा करते हैं, परोपकार परायण होते हैं, फिर भी उनके मन में अहंकार का भाव नहीं आता। सज्जन लोग या संत पुरुष तो मानो परोपकार के लिए ही होते हैं। सभी कर्त्ता एक समान हों, यह आवश्यक नहीं है। कर्ता-कर्ता में अन्तर हो सकता है। गीताकार ने राजस कर्ता के बारे में विश्लेषण करते हुए कहा है—

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तित।।१८/२७।।

जो कर्ता राग (आवेश) से प्रेरित होता है, जो अपने कर्मों का फल पाने के लिए उत्सुक रहता है, जो लोभी होता है, जिसका स्वभाव हिंसापूर्ण होता है, जो अपवित्र होता है, जो आनन्द और शोक के कारण विचलित हो जाता है, वह कर्ता राजसिक कहलाता है।

जो व्यक्ति काम तो करता है, पर साथ में राग भावना जुड़ी हुई है, रागान्वित चित्तवाला है, आसक्ति-युक्त है और जो कर्म करता है उसका फल पाने की भावना रहती है, यह उत्तम कोटि की बात नहीं होती। गीता की भाषा में

वह राजस स्तर का कर्ता होता है। आदमी निष्काम भाव से कार्य करे, वह उत्तम कोटि का कर्ता होता है। जिसमें लोभ है, लालच है, जो आकांक्षा रखता है, मांग करता रहता है, वह लुब्ध आदमी होता है। लोभ को सर्व विनाशक कहा गया है। ऐसा कर्ता, जिसकी चेतना पर लोभ छा जाता है, फिर नैतिकता, अनैतिकता, सच्चाई आदि की बातें गौण हो जाती हैं, जिसमें आक्रामक भाव है, हिंसा का भाव है, आक्रोश का भाव है, वह राजस कोटि का कर्ता बन जाता है। जिसके हृदय में पवित्रता नहीं है, सरलता नहीं है, ऋजुता नहीं है, ऊपर से मीठा बोलता है और भीतर में छूरी रखता है, वह भी राजस कोटि का कर्ता होता है। मेरा तो मानना है कि मीठा बोलकर आदमी को फंसाने का प्रयास करने की अपेक्षा साफ-साफ कह देना कहीं ज्यादा अच्छा होता है। आदमी मात्र ऊपर से ही मीठा न बोले, भीतर में भी पवित्रता रखे। वह कर्ता जो कभी हर्ष में चला जाता है और कभी शोक में चला जाता है यानी हर्ष और शोक से व्यापृत होता रहता है, वह राजस कर्ता होता है। यह आदमी की कमजोरी होती है कि वह बहुत जल्दी हर्ष में चला जाता है और बहुत जल्दी शोक में भी चला जाता है। मानो कि आदमी खिलौना-सा बन जाता है। परिस्थिति अनुकूल आ गई तो आदमी खुश हो गया, परिस्थिति प्रतिकूल आ गई तो आदमी शोकान्वित हो गया, दुःखी हो गया। यह हर्ष और शोक हमारी समता की साधना में बाधक बनता है।

साधु का तो धर्म है कि वह समता का विशेष अभ्यास करे। गृहस्थ भी समता की साधना करे। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पांच धर्म समता के लक्षण हैं, मानो समता के स्फुलिंग हैं, समता की शाखाएं-प्रशाखाएं हैं। समता है तभी इन पांच धर्मों की साधना हो रही है। प्राणियों के प्रति हमारे मन में अहिंसा की भावना, अनुकम्पा की भावना है और दूसरों को मेरी ओर से तकलीफ न हो जाए, यह भावना है तो मानना चाहिए अहिंसा का विकास हुआ है। जो काम हम स्वयं कर सकते हैं, उस काम के लिए दूसरों का आलम्बन क्यों लें? औचित्य के साथ आदमी में स्वावलम्बिता की भावना होती है तो मानना चाहिए अहिंसा की चेतना का विकास हुआ है। संस्कृत साहित्य में कहा गया—**सर्वं परवशं दुःखं** अर्थात् परवश है वह दुःख है और स्ववश है वह सुख है। जो आदमी परवश हो जाता है, एक प्रकार से उसके जीवन में दुःख आ जाता है। सामान्यतया कौन किससे काम करवाता है। परवशता में दूसरों से काम कराना पड़ता है और कहीं-कहीं तो विवशता में भी स्वयं का काम स्वयं को ही

करना पड़ता है, पर जहां स्ववशता हो, दूसरे काम करनेवाले तैयार हों तो भी स्वावलम्बिता की भावना हो, वह खास बात होती है।

समता का अभ्यासी आदमी यह प्रयास करे कि मैं झूठ बोलने से बचूं। झूठ बोलने से कर्म का बंध माना गया है और जहां झूठ के साथ कपट है, स्वार्थ की तुच्छ भावना है, वह झूठ तो और भी ज्यादा भयंकर पाप का बंध करानेवाला बन सकता है। समता का एक स्फुलिंग है—यथार्थवादिता। इसी तरह अचौर्य की साधना करनेवाला व्यक्ति यह संकल्प करे कि मैं कभी चोरी नहीं करूंगा। किसी दूसरे की चीज नहीं लूंगा। भले मुझे हीरा भी मिल जाए, वह भी मेरे लिए पत्थर है, बिल्कुल बेकार है। मैं उसे नहीं लूंगा। **'पर धन धूलि समान'** पराया धन धूल के समान है, ऐसा जिसका सिद्धान्त है, विचार है तो मानना चाहिए उसमें समता का अभ्यास हुआ है। जिसमें ब्रह्मचर्य की साधना है, इन्द्रिय-संयम की साधना है तो मानना चाहिए समता का अभ्यास हुआ है। जिसने अपरिग्रह की साधना कर ली है, रुपया-पैसा, जमीन-जायदाद किसी से मोह नहीं है, भीतर में मूर्च्छा का भाव नहीं है तो मानना चाहिए ऐसे अमूर्च्छावाले व्यक्ति ने, अपरिग्रह की चेतनावाले व्यक्ति ने समत्व की साधना की है।

तामस कर्ता के बारे में श्रीकृष्ण कहते हैं—

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते।।१८/२८।।

जो कर्ता असंतुलित, असंस्कृत, हठी, धोखेबाज, द्वेषी, आलसी, दुःखी और काम को टालता जानेवाला होता है, वह तामसिक कहलाता है।

जो व्यक्ति काम तो करता है, पर नियमानुसार काम नहीं करता, जिस काम को जैसे करना चाहिए, उस विधि से काम नहीं करता यानी शास्त्र-नियमानुसार काम नहीं करनेवाला व्यक्ति कर्ता तो है, परन्तु वह तामस कोटि का कर्ता होता है। जो कार्य के साथ अहंकार रखता है कि मैंने अमुक काम किया, वह भी तामसिक वृत्तिवाला कर्ता होता है। जो धूर्त आचरण करता है, असत्य बोलता है, आलस्य ज्यादा और काम कम करता है, वह भी तामस कोटि का कर्ता होता है। विद्यार्थी को विशेष ध्यान देना चाहिए। उन्हें कभी भी आलस्य नहीं करना चाहिए। उनमें अध्ययन के प्रति, अच्छे कार्यों के प्रति पुरुषार्थ होना चाहिए।

श्रमशीलता एक अच्छे आदमी का गुण होता है। जहां आदमी के जीवन

में आलस्य आ जाता है, काम करने से जी चुराने लगता है, वहां कई बार समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। यदि श्रम के स्थान पर विलासिता, सुविधावाद अपना स्थान बना लेता है तो विकास में कमी आ जाती है।

श्रीमान् नारायण अग्रवाल विश्वविद्यालय में डिग्री प्राप्त करने के पश्चात् गांधीजी के पास गए। गांधीजी के प्रति उनके मन में आकर्षण था।

गांधीजी ने पूछा—तुम कौन हो? कहां से आए हो? क्यों आए हो?

श्री नारायण अग्रवाल—मैंने अध्ययन संपन्न कर लिया है। अब मैं आपके आश्रम में सेवाएं देना चाहता हूं। आप मेरी सेवाएं स्वीकार करें।

गांधीजी ने नारायण को ध्यान से देखा और कहा—सेवाएं देनी है तो इस फावड़े को उठाओ और जमीन खोदो।

श्री नारायण आश्चर्यचकित रह गए। उन्होंने मन ही मन सोचा कि मैं इतना पढ़ा-लिखा व्यक्ति और मेरे द्वारा यह मजदूरी का काम कराया जा रहा है। मन में प्रतिक्रिया तो हुई, किंतु गांधीजी के प्रति सम्मान का भाव था, इसलिए आदेश को शिरोधार्य कर लिया। फिर उन्होंने इस बात पर चिंतन किया कि गांधीजी कितने महान् व्यक्ति हैं। उन्होंने मुझे यह सिखाया कि विद्या प्राप्त करना अच्छा है, किन्तु विद्या का अहंकार करना अच्छा नहीं है और साथ में आदमी को श्रमशील भी होना चाहिए। अहंकार और आलस्य ऐसे कीटाणु हैं, जो आदमी को पतन की ओर धकेल देते हैं।

आदमी को जीवन में विकास करने के लिए परिश्रम करना चाहिए। भाग्य की बात को दिमाग से अलग करके पुरुषार्थ करना चाहिए। पुरुषार्थ में सफलता निहित होती है। भाग्य है वैसा पड़ा है, हमें भाग्य में उलझना नहीं चाहिए। हमारा काम है पुरुषार्थ करना। संस्कृत वाङ्मय में कहा गया है—**न हि रत्नमन्विष्यते, मृग्यते हि तत्** अर्थात् रत्न आदमी की खोज नहीं करता, आदमी को रत्न की खोज करनी पड़ती है।

आदमी को पुरुषार्थ करने पर कुछ विशेष मिल सकता है। हालांकि मैं भाग्य को अस्वीकार नहीं करता, भाग्य से जो मिलेगा सो मिल जाएगा। हमारा कर्त्तव्य पुरुषार्थ करना है। उत्तराध्ययन सूत्र में जहां आलस्य को ज्ञान-प्राप्ति में एक बाधा माना गया है, वहीं पुरुषार्थ एक साधक तत्त्व है, जिसके द्वारा आदमी ज्ञान भी प्राप्त कर सकता है और अन्यान्य क्षेत्रों में भी वह सफलता को प्राप्त कर सकता है। प्रमाद विद्यार्थी के लिए ज्ञान-प्राप्ति में बाधक बनता है, साधु के

लिए साधना में बाधक बनता है और किसी कार्यशील आदमी के लिए कार्य करने में बाधक बनता है। प्रमाद मानो सबका शत्रु है। आदमी प्रमाद को छोड़े और अपनी शक्ति को ज्ञान प्राप्त करने में, साधना करने में, कार्य करने में लगाए तो कुछ प्राप्त कर सकता है। आदमी सुखी जीवन जीना चाहता है, परन्तु सुखी जीवन जीने के लिए अप्रमाद और संयम की अपेक्षा है। जहां साधना है, प्रमाद-मुक्तता है, वहां सुख मिलता है और शांति का संचार होता है।

गीताकार ने कहा—जो व्यक्ति दुःखी होता है, उत्साह को खो देनेवाला होता है, वह तामस कोटि का कर्ता होता है। जो कुछ क्षणों में सम्पन्न होनेवाले काम में बहुत लम्बा समय लगा देता है, वह दीर्घसूत्री व्यक्ति होता है। व्यक्ति पहले तो चिन्तन करने में समय लगा देता है, फिर निर्णय करने में देरी कर देता है, निर्णय के बाद क्रियान्विति में लम्बा समय लगा देता है, फिर धीरे-धीरे काम को आगे बढ़ाता है। ऐसा दीर्घसूत्री कर्ता तामस कोटि का कर्ता होता है। सात्त्विक कोटि का कर्ता उच्च स्तर का होता है, राजस कोटि का कर्ता मध्यम स्तर का होता है और तामस कोटि का कर्ता निम्नश्रेणी का कर्ता होता है। जहां फलाकांक्षा नहीं, आसक्ति नहीं और शुद्ध लक्ष्य के साथ काम किया जाए, ऐसे कार्य को करनेवाला सात्त्विक कोटि का कर्ता होता है। सात्त्विक कर्ता बनने और कर्तृत्व को विकसित करने का प्रयास करें, यह हमारे लिए कल्याणकारी होगा।

२१

शुद्ध बुद्धि का विकास हो

मनुष्य के जीवन में शरीर का मूल्य है तो वाणी, चेतना और बुद्धि का भी बहुत मूल्य है। दुर्बुद्धि और बुद्धिहीन आदमी के सामने अनेक समस्याएं आ सकती हैं और अधिक विकास की संभावना कम हो जाती है, इसलिए बुद्धि की प्राप्ति भी जीवन में बहुत महत्त्व रखती है। अनेक लोग ऐसे हैं जो बुद्धि संपन्न हैं। बुद्धि संपन्न होने के बाद भावशुद्धि अपेक्षित होती है। बुद्धि और शुद्धि इन दोनों का योग रहे तो जीवन में काफी अंशों में परिपूर्णता आ सकती है। बुद्धि कामधेनु भी बन सकती है और बुद्धि विषधेनु भी बन सकती है। अगर बुद्धि के साथ भावशुद्धि है तो वह कामधेनु बन जाती है और बुद्धि के साथ अशुद्ध भाव जुड़े हुए हैं तो वह एक प्रकार की विषधेनु यानी विष की तरह नाश करनेवाली बन जाती है। जब मनुष्य की चेतना में अध्यात्म का विकास हो जाता है और अध्यात्म से जब बुद्धि का परिशोधन हो जाता है, तब वह बुद्धि शुद्ध बन जाती है। अध्यात्म से तात्पर्य है जिस बुद्धि के साथ संतोष जुड़ा हुआ है, सच्चाई और नैतिकता जुड़ी हुई है तो मानना चाहिए कि बुद्धि शुद्ध है। जिस बुद्धि के साथ क्षमाभाव जुड़ा हुआ है, ऋजुता, विनम्रता और संसार की अनित्यता का भाव जुड़ा हुआ है तो मानना चाहिए कि बुद्धि शुद्ध है।

शुद्ध बुद्धि से बहुत अच्छे काम किए जा सकते हैं। बुद्धि अशुद्ध हो जाए तो वह विनाश भी कर सकती है। मैं बुद्धि को बहुत सम्मान की दृष्टि से देखता हूं। बुद्धिहीन आदमी क्या अच्छा कार्य कर पाएगा? हम बुद्धि के द्वारा कर्मों का बंध भी कर सकते हैं और बुद्धि के द्वारा कर्मों को काट भी सकते हैं। हमें बुद्धि से रास्त मिल जाता है। बुद्धि एक आलोक है, प्रकाश है। बुद्धि होती है तो ज्ञान का विकास हो सकता है। बुद्धि एक शक्ति है। कुछ बच्चे इतनी तीक्ष्ण बुद्धिवाले होते हैं कि बहुत जल्दी बात को समझ लेते हैं, पाठ को याद कर लेते हैं, काफी

अध्ययन भी कर लेते हैं और परीक्षा में अच्छे अंकों से पास हो जाते हैं, क्योंकि उनके पास बुद्धि की शक्ति है। कुछ बच्चे ऐसे होते हैं, जिनका बौद्धिक विकास नहीं होता। वे इतने विकल होते हैं कि उनमें कोई विकास की विशेष संभावना ही नहीं रहती। यह बुद्धि का तारतम्य है। जैन वाङ्मय के अनुसार बुद्धि का संबंध ज्ञानावरणीय कर्म के साथ होता है। जब ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम हो जाता है, तब बुद्धि अच्छे रूप में प्राप्त हो जाती है और जब ज्ञानावरणीय कर्म की सघनता रहती है, तब बुद्धि की मंदता बनी रहती है। एक पिता के यदि तीन पुत्र हैं तो तीनों पुत्र समान बुद्धिवाले हों, यह आवश्यक नहीं। कोई बहुत कुशाग्र बुद्धिवाला हो सकता है तो कोई मंद बुद्धिवाला भी हो सकता है और कोई बिल्कुल अविकसित चेतनावाला भी हो सकता है। इसलिए हम इस बात पर विचार करें कि जिनको बुद्धि प्राप्त है, वे बुद्धि का दुरुपयोग न करें, बुद्धि के द्वारा उलझनें पैदा न करें, गुत्थियों को उलझाएं नहीं, अपितु कहीं गुत्थियां हों तो उन्हें बुद्धि के द्वारा सुलझाने का प्रयास करें। श्रीमद्भगवद्गीता में बुद्धि पर विश्लेषण किया गया है। वहां तीन प्रकार की बुद्धि बताई गई है—सात्त्विक बुद्धि, राजस बुद्धि और तामस बुद्धि। सात्त्विक बुद्धि के बारे में श्रीकृष्ण कहते हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।।१८/३०।।

जो बुद्धि कर्म और अकर्म को समझती है, जो करने योग्य कार्य और न करने योग्य कार्य को समझती है, जो इस बात को समझती है कि किससे डरना चाहिए और किससे नहीं डरना चाहिए, कौनसी वस्तु आत्मा को बंधन में डालती है और कौनसी वस्तु आत्मा को मुक्त करती है, हे पार्थ! वह बुद्धि सात्त्विक होती है।

जहां आवेश, आवेग, कषाय की प्रबलता होती है, वहां बुद्धि भी गलत दिशा में जा सकती है, गलत काम कर सकती है। हम बुद्धि का विकास करने का प्रयास करें और बुद्धि के द्वारा फिर ज्ञान का विकास करने का प्रयास करें, परन्तु बुद्धि के साथ शुद्धि रहे। गीता की सात्त्विक बुद्धि और उत्तराध्ययन की प्रज्ञा में मुझे काफी समानता प्रतीत हो रही है। हम प्रज्ञा का विकास करें। जिसकी प्रज्ञा विकसित नहीं है, उस व्यक्ति का शास्त्र भी उद्धार नहीं कर सकते। जिस व्यक्ति के पास शास्त्र में दिए गए तत्त्वों को ग्रहण करने की प्रज्ञा होती है, सात्त्विक बुद्धि का विकास होता है, वही व्यक्ति कल्याण की दिशा में आगे बढ़ सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में राजसी बुद्धि के बारे में श्रीकृष्ण कहते हैं—

यथा धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।।१८/३१।।

जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म और अधर्म को तथा करने योग्य कार्य को और न करने योग्य कार्य को गलत ढंग से समझता है, हे पार्थ! वह बुद्धि राजसिक होती है।

जो बुद्धि अब तक धर्म को और अधर्म को यथार्थ रूप में ग्रहण करने में सक्षम नहीं है और क्या करना, क्या नहीं करना, क्या कर्त्तव्य और क्या अकर्त्तव्य, इसको नहीं जान पा रही है, जो यथार्थ से दूर है, वह बुद्धि राजसी कोटि की होती है। राजसी बुद्धि के कारण आदमी सम्यक् बोध नहीं कर पाता और सम्यक् बोध न होने से आचरण भी सम्यक् होना कठिन हो जाता है।

हमारी दुनिया में कर्त्तव्य का ज्ञान होना बड़ी बात होती है। जो आदमी अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक होता है, वह अपने जीवन में सफल होता है। जो लोग अपने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को नहीं जानते, वे कभी भी अपना अनिष्ट कर सकते हैं। उनका ऐसा अनिष्ट हो सकता है जिसकी उन्होंने कभी कल्पना भी न की हो। गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, मालिक-मजदूर आदि सभी अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहें, सब अपने कर्त्तव्यों को समझें और कर्त्तव्य के अनुसार कार्य करें तो जीवन का क्रम ठीक चलता है। जहां कर्त्तव्य से च्युति हो जाती है, कर्त्तव्य की पालना नहीं होती है, वहां कठिनाई पैदा हो सकती है। कर्त्तव्य से कहीं च्युति हो जाए तो तत्काल आदमी उसका परिष्कार करने का प्रयास करे। परमपूज्य गुरुदेव तुलसी का एक प्रसंग है। वि.सं. २०३२ में परमपूज्य गुरुदेव तुलसी लाडनूं में विराजमान थे, मर्यादा महोत्सव का समय था। पश्चिम रात्रि में यानी सूर्योदय से पहले साधुओं की सभा जुड़ी हुई थी। गुरुदेव तुलसी ने एक अवस्थाप्राप्त साधु को नामोल्लेखपूर्वक खड़ा किया और साधुओं की सभा में उलाहना देते हुए फरमाया कि आपने यह भूल की है, गलती की है। वे मुनिजी आगे आए, गुरुदेव को वंदना की और अपनी भूल को स्वीकार किया। अगले दिन जब वापस साधुओं की सभा जुड़ी, तब गुरुदेव तुलसी ने कहा—मैंने एक साधु को उलाहना दिया था। जिस गलती की शिकायत मेरे पास आई थी, उसका पुष्ट प्रमाण मेरे पास नहीं है। मैंने पुष्ट प्रमाण के बिना उनको दण्डित कर दिया, यह मैंने भूल कर दी। अब मैं अपनी भूल का परिष्कार करने के लिए

प्रायश्चित्त करूंगा और प्रायश्चित्त स्वरूप मैं एक एकासन करूंगा। यह कर्त्तव्य के प्रति जागरूकता है। एक आचार्य का कर्त्तव्य है कि गलती होने पर शिष्य को उलाहना दे, किन्तु बिना कोई प्रमाण के मात्र सुनी सुनाई बात से किसी को उलाहना दे दिया जाए तो कुछ कर्त्तव्यच्युति की बात हो सकती है। एक साधु का कर्त्तव्य है कि अपनी साधना का विकास करे। हम स्वनामधन्य स्थूलिभद्र को देखें, जो वेश्या के पास रहकर भी निर्मल रह गए, कोई दाग नहीं लगने दिया। उन्होंने साधना का कितना विकास कर लिया था। साधु का यह फर्ज है कि वह अपनी साधना के प्रति जागरूक रहे और जितना संभव हो धर्मोपदेश दे, दूसरों को ज्ञान की बातें बताए।

बुद्धि के तीन प्रकारों में अन्तिम प्रकार है—तामसी बुद्धि। इस बुद्धि के बारे में गीताकार कहते हैं—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।।१८/३२।।

जिस बुद्धि के द्वारा अन्धकार में डूबा हुआ मनुष्य अधर्म को धर्म समझता है और सब बातों को एक विकृत रूप में (सत्य के विपरीत) देखता है, हे पार्थ! वह बुद्धि तामसिक होती है।

जैन वाङ्मय में एक शब्द आता है मिथ्यादर्शन अर्थात् तत्त्व के प्रति विपरीत श्रद्धा होना, जैसे—धर्म को अधर्म मानना और अधर्म को धर्म मानना। यही बात गीताकार ने तामसी बुद्धि के बारे में कही है। तामसी बुद्धिवाला व्यक्ति अधर्म को धर्म समझता है और धर्म को अधर्म समझता है, क्योंकि उसकी बुद्धि पर तमस का आवरण या मिथ्यात्व का आवरण छा जाता है। जो सभी विषयों में विपरीत श्रद्धान रखता है, उसकी बुद्धि को तामसी बुद्धि कहा गया है। सामान्यतया नास्तिकवाद को मिथ्यात्व कहा जाता है और आस्तिकवाद को समीचीन आस्था कहा जाता है। चार्वाक दर्शन नास्तिकवाद का दर्शन है। उसके अनुसार यह दुनिया उतनी ही है जितनी हमारी इन्द्रियों की विषय बनती है, जितनी हमें दिखाई देती है, उसके परे परलोक आदि कुछ नहीं है। इस सिद्धान्त के आधार पर कहा जा सकता है कि न परलोक है, न पुनर्जन्म है, इसलिए जब तक जीएं, सुख से जीएं, पास में पैसा न हो तो कर्जा लेकर भी घी पीएं यानी खूब मौजमस्ती करें। क्योंकि शरीर के भस्मीभूत हो जाने के बाद कुछ भी नहीं बचेगा। चूंकि आत्मा नाम का कोई तत्त्व है ही नहीं, जो कुछ है वह शरीर है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण का आधार आस्तिक दर्शन है और भौतिक दृष्टिकोण का आधार नास्तिक दर्शन है। तामसी बुद्धिवाला व्यक्ति नास्तिक दृष्टिकोणवाला होता है। जब तक तमस का प्रभाव रहता है, वह व्यक्ति नास्तिकता अथवा विपरीत श्रद्धा से ओतःप्रोत बना रहता है। प्रश्न होता है कि परलोक है या नहीं, यह हमें कैसे ज्ञात हो? जब तक पूरा ज्ञान नहीं होता, तब तक यह ज्ञात नहीं होता। इसका समाधान देते हुए किसी विद्वान ने कहा कि तुम परलोक के बारे में संदिग्ध हो तो भी गलत काम मत करो, क्योंकि अगर परलोक नहीं है फिर भी यदि तुमने अच्छे काम किए हैं तो तुम कौनसे घाटे में रहे? यदि परलोक है तो तुम्हें अच्छे कार्यों का फल आगे भी मिल जाएगा और परलोक नहीं है तो भी तुम्हारा वर्तमान जीवन तो अच्छा बीतेगा।

धार्मिक साहित्य में स्वर्ग और नरक की बात आती है। स्वर्ग और नरक तो स्वयं के आचरणों से मिलनेवाली चीजें हैं। आचरण अच्छा है तो स्वर्ग मिल सकता है और आचरण खराब है तो नरक भी मिल सकता है। स्वर्ग और नरक की स्थितियां हमारे वर्तमान जीवन में भी आ सकती हैं। जीवन में शांति है, जीवन अच्छा है तो यहां भी स्वर्ग का अनुभव किया जा सकता है, जीवन में दुःख है तो यहां भी नरक का कुछ अनुभव किया जा सकता है। आदमी में गुणात्मकता होनी चाहिए, उदारता होनी चाहिए, अनासक्ति का अभ्यास बढ़ना चाहिए, धर्म का प्रभाव जीवन में रहना चाहिए। आदमी में आसक्ति ज्यादा है तो मानना चाहिए अभी मोह का प्रभाव है। दो मार्ग हैं—एक मोह का मार्ग और दूसरा मोक्ष का मार्ग। दोनों विपरीत मार्ग हैं। अगर मोह के मार्ग पर आगे बढ़ेंगे तो मोक्ष नहीं मिलेगा। अगर मोक्ष के मार्ग पर आगे बढ़ेंगे तो कभी मोह से मुक्त हो जाएंगे। आदमी के मन में धन के प्रति मोह रहता है, परिवार के प्रति मोह रहता है, पद के प्रति मोह हो जाता है, किन्तु मोह को कम करने की साधना ही मोक्ष की आराधना हो जाती है। आदमी में जब तक मोह प्रबल रहेगा तो बुद्धि तामसी हो जाएगी और जब मोह मंद हो जाएगा तो बुद्धि सात्त्विकता की ओर अग्रसर हो जाएगी। आदमी तामसी बुद्धि को छोड़कर सात्त्विक बुद्धि का विकास करे।

२२

धृति धारण करो

आदमी के जीवन में धृति की शक्ति होनी चाहिए। जिसमें धृति होती है, उसकी आत्मा निर्मल रहती है, वह सुखी रहता है। जिसमें धृति का अभाव होता है, वह व्यक्ति संकल्प-विकल्पों के वशीभूत होकर पग-पग पर विषादग्रस्त हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में धृति के तीन प्रकार बताए गए हैं—सात्त्विक धृति, राजस धृति और तामस धृति। सात्त्विक धृति के बारे में गीताकार ने कहा—

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।।१८/३३

जिस अव्यभिचारिणी धारणशक्ति से मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियों की गतिविधियों को धारण करता है। हे अर्जुन! वह धृति सात्त्विक प्रकार की होती है।

धृति यानी धारण करने की शक्ति। सात्त्विक धृति वह होती है, जिस धृति के द्वारा आदमी योग-साधना व ध्यान-साधना का अभ्यास करके प्राण, मन और इन्द्रियों के व्यापार को नियंत्रण में रख लेता है, उनको धारण कर लेता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में मन और भाव के बारे में अनेक तथ्य मिलते हैं। वहां कहा गया है कि हमारे भाव विभिन्न होते हैं। मनोज्ञ और अमनोज्ञ भाव हमारे मन में आ जाते हैं। उन सबको सहन करना और उत्तेजना का अवसर आ जाने पर भी अपने आपको उत्तेजित न होने देना, यह धीरता की बात है। सचमुच, विकार का हेतु मिल जाने पर भी जिनके चित्त विकृत नहीं होते हैं, वे व्यक्ति धीरपुरुष कहलाते हैं। ऐसे व्यक्ति अपने जीवन में कष्ट आ जाने पर भी कभी न्याय मार्ग से विचलित नहीं होते। हम धृति का विकास करने का प्रयास करें। हमारी आस्था सच्चाई पर हो, अच्छाई पर हो। हम न्याय के पथ पर चलने का प्रयास करें।

हमारी धृति इतनी सुन्दर, स्वच्छ और सात्त्विक हो कि हमारे भीतर अपने मन, प्राण और इन्द्रियों पर नियंत्रण करने की शक्ति विकसित हो जाए।

धृति आदमी के जीवन का एक गुण होता है, परन्तु सबमें एक समान धृति का स्वरूप नहीं होता। किसी व्यक्ति में सात्त्विक धृति होती है तो किसी में राजसी धृति होती है और किसी में तामसी धृति भी होती है। सात्त्विक धृति बहुत उत्तम कोटि की होती है। उसमें योग-ध्यान-साधना के द्वारा मन, प्राण और इन्द्रिय-व्यापार को संतुलित व नियमित किया जाता है। राजसी धृति के साथ आसक्ति जुड़ी हुई रहती है और तामसी धृति तो और भी निकृष्ट होती है। राजसी धृति के बारे में श्रीमद्भगवद्गीता के माध्यम से श्रीकृष्ण कहते हैं–

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।।१८/३४।।

जिस धृति के द्वारा फल की इच्छावाला मनुष्य अत्यन्त आसक्ति से धर्म, अर्थ और कामों को धारण करता है, हे अर्जुन! वह धृति राजसिक प्रकार की होती है।

भारतीय वाङ्मय में त्रिवर्ग बताया गया है–धर्म, काम और अर्थ। हम विचार करें कि मनुष्य के जीवन में इन तीनों के सिवाय और कुछ भी है क्या? मनुष्य के जीवन में या तो धर्म दिखाई देगा या अर्थ दिखाई देगा या काम दिखाई देगा। पुरुषार्थ चतुष्टय में एक चौथा तत्त्व माना गया है–मोक्ष। हम मोक्ष की बात को एक बार छोड़ दें, केवल त्रिवर्ग पर विचार करें। जिस आदमी के जीवन में त्रिवर्ग ठीक तरह नहीं होता है यानी पैसा भी पूरा नहीं है, काम भी नहीं है और न जीवन में धर्म का प्रभाव है, उस आदमी के जीवन को एक मुर्दे की तरह कहा जा सकता है। जैसे लौहार की धौंकनी संकुचित-विकुचित होती है, परन्तु वह सप्राण नहीं कहलाती। इसी तरह श्वास लेने और छोड़ने के कारण आदमी का पेट संकुचित-विकुचित होता है। इतने मात्र से आदमी को सजीव नहीं कहा जा सकता। गीताकार ने कहा कि राजसी धृति उसमें होती है, जिस आदमी का धर्म, काम और अर्थ के प्रति आसक्ति का भाव होता है। धर्म के साथ भी यह फलाकांक्षा जुड़ जाती है या आसक्ति जुड़ जाती है कि मैं धर्म करूं तो इसका मुझे अमुक फल मिलना चाहिए।

गार्हस्थ्य में धर्म, अर्थ और काम–इन तीनों में सामंजस्य होना आवश्यक है। जैसे एक गृहस्थ को अर्थ भी चाहिए। उसे अर्थ-प्राप्ति के लिए प्रयास भी

करना पड़ता है। पैसा नहीं है तो जीवन में कई बातों की कमी रह जाती है। कइयों के पास बहुत अर्थ होता है। जो अर्थ-सम्पन्न व्यक्ति हैं, उन्हें कभी अर्थ का घमण्ड नहीं करना चाहिए। अर्थ का क्या पता, आज है और कल न भी रहे। वह कब करोड़पति से रोड़पति बन जाए। इसलिए अर्थ के प्रति ज्यादा मोह या आसक्ति का भाव नहीं रखना चाहिए। आदमी को अनासक्ति का भाव बढ़ाना चाहिए, त्याग की चेतना बढ़ानी चाहिए और धन का कभी दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। गलत कार्यों में धन का नियोजन नहीं करना चाहिए। ये बातें अर्थ के साथ जुड़ जाती हैं तो अर्थ अनर्थ होने से बच सकता है। अन्यथा **अर्थमनर्थं भावय नित्यम्** अर्थात् यह अर्थ अनर्थकारी भी बन जाता है। प्राचीन साहित्य में कहा गया कि तुम गृहस्थ हो तो अर्थ के पीछे इतने ज्यादा मत पड़ो कि धर्म छूट जाए और काम में भी कमी आ जाए। काम के पीछे भी इतने ज्यादा मत पड़ो कि अर्थार्जन कम हो जाए और धर्म भी छूट जाए। धर्म के पीछे भी इतने ज्यादा मत पड़ो कि अर्थ और काम दोनों बाधित हो जाए। जैसे कोई गृहस्थ यह सोचे कि मैं तो दिनभर सामायिक करूंगा, साधुओं के ठिकाने में ही रहूंगा तो उसका गार्हस्थ्य कैसे चलेगा? घर में अर्थ की अपेक्षा है और कमाई नहीं करता है तो घर के बाल बच्चे क्या खाएंगे? गृहस्थ के लिए अर्थ, काम और धर्म—इन तीनों में संतुलन होना आवश्यक है। अर्थ और काम पर धर्म का अंकुश होता है तो अर्थ और काम भी संतुलित रहेंगे। अगर धर्म के बैनर के नीचे अर्थ और काम होता है तो वे सुशृंखल रहेंगे और यदि धर्म का बैनर नहीं रहेगा तो फिर अर्थ और काम उच्छृंखल भी हो सकते हैं। इसलिए गीताकार ने कहा कि गृहस्थ को धृति के द्वारा धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों को धारण करना चाहिए। साधना करनेवाला साधु अर्थ की आसक्ति से भी बचे और काम से भी बचे, पूर्ण ब्रह्मचर्य का जीवन जीए, परन्तु जो गृहस्थ है उसके लिए काम भी मान्य है, अर्थ भी मान्य है और साथ में धर्म का योग भी मान्य है। केवल भोग जीवन में न हो, योग भी जीवन में होना चाहिए। केवल राग जीवन में न हो, विराग या त्याग भी जीवन में होना चाहिए।

आदमी मनोरंजन करता है और मनोरंजन के लिए कितने-कितने रमणीय दृश्य देखता है, बातें करता है, हंसी-मजाक करता है। मनोरंजन के साथ आत्मरंजन को भी याद रखना चाहिए, आत्मरमण करना चाहिए। मनोरंजन का सुख तो भौतिक सुख है, तात्कालिक सुख है। आत्मरंजन या आत्मरमण का सुख परम सुख होता है। आदमी को केवल शरीर में नहीं रहना चाहिए, उसको

आत्मा की ओर भी ध्यान देना चाहिए। केवल भौतिकता में नहीं रहना चाहिए, उसको आध्यात्मिकता की ओर भी ध्यान देना चाहिए। केवल मन, वाणी और शरीर तक ही नहीं रहना चाहिए, बल्कि मन, वाणी, शरीर से आगे अमन, अवाक् और अशरीर की भूमिका का भी विचार करना चाहिए, चिन्तन करना चाहिए। हम दिनभर बोलें ही नहीं, बल्कि न बोलना भी सीखें। हम दिनभर सोचें ही नहीं, बल्कि निर्विचार होने का भी अभ्यास करें। दिनभर शरीर से क्रियाएं ही न करें, बल्कि स्थिरता का भी अभ्यास करें। भौतिकता पर आध्यात्मिकता का अंकुश रहना चाहिए। जिसमें फल की आकांक्षा रहती है, उस धृति को गीताकार ने राजसी धृति की संज्ञा दी है। आदमी को राजसी धृति से सात्त्विक धृति की ओर प्रस्थान करना चाहिए।

श्रीमद्भगवद्गीता में तामसी धृति का वर्णन करते हुए कहा गया है—

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी।।१८/३५।।

जिस धृति के द्वारा कोई मूर्ख व्यक्ति निद्रा, भय, शोक, विषाद और अभिमान को नहीं त्यागता, हे पार्थ! वह तामसिक प्रकार की धृति होती है।

धृति का मतलब है पकड़कर रखना, धारण करना। धारण अच्छी बात को भी किया जा सकता है और धारण गलत चीज को भी किया जा सकता है। तामसी धृति के अन्तर्गत आदमी विकारों को धारण करता है या दुर्गुणों को धारण करता है, इसलिए वह धृति तो होती है, परन्तु तामसी धृति होती है। पहला तत्त्व है—निद्रा। जिसकी नींद ज्यादा लेने की आदत होती है, वह तामसी धृतिवाला व्यक्ति होता है। यद्यपि निद्रा शरीर के लिए, स्वास्थ्य के लिए आवश्यक भी है। आवश्यक निद्रा न ली जाए तो शरीर में कठिनाई पैदा हो सकती है। हम श्रम करते हैं तो शरीर को विश्राम की भी अपेक्षा होती है। अगर आदमी चार दिन बिल्कुल भी न सोए और काम ही काम करता रहे तो आखिर शरीर जवाब देने की स्थिति में आ जाएगा यानी शरीर की मांग है कि मेरे से श्रम लो, पर साथ में मुझे विश्राम भी दो। श्रम और विश्राम का संतुलन रहना चाहिए। वृद्धावस्था आने के बाद निद्रा की अपेक्षा कम हो सकती है। नींद जल्दी जाग जाए और निद्रा की अपेक्षा ज्यादा न रहे तो आदमी भले कम नींद ले, परन्तु जितनी नींद की अपेक्षा शरीर को है, उतनी लेनी चाहिए।

एक बच्चा सात-आठ घंटा भी सो सकता है तो एक युवा की नींद छह

घण्टे में भी पूरी हो सकती है। अपेक्षित नींद से ज्यादा नींद लेने की आदत या आलस्य की आदत का होना और नींद में ऐसे वैसे सपने आना, इस प्रकार की स्थिति का होना तामसी धृति का एक लक्षण होता है।

दूसरा तत्त्व है—भय। जिसमें भय की संज्ञा है, जो भय को पकड़े रखता है, बात-बात में डरता है, उसमें तामसी धृति होती है। जैन वाङ्मय में चार संज्ञाएं अथवा दस संज्ञाएं बताई गईं हैं। उनमें एक संज्ञा है—भय संज्ञा। प्रायः बच्चों को डर लगता है। रात को अंधेरे में बाहर जाना भी उनके लिए कठिन होता है। यदि वे रात्रि में भूत आदि की बात सुन लेते हैं तो कभी-कभी रात को नींद आना भी कठिन हो जाता है। अनेक बार हम काल्पनिक भय से डर जाते हैं। पूज्य गुरुदेव आचार्यश्री महाप्रज्ञजी जब छोटी अवस्था में थे, तब एक रात किसी ने भूत आदि की बातें बात दीं। फिर रात को उनको नींद आनी मुश्किल हो गई। बचपन में ऐसी बातें सुन ली जाती हैं तो फिर रात को कई बार वे ही चीजें दिखने लग जाती हैं। यह भय की संज्ञा है। किसी व्यक्ति में प्राणी विशेष के प्रति भय की संज्ञा होती है, जैसे—कोई आदमी चूहे से डरता है। हालांकि आदमी के सामने चूहा छोटा प्राणी होता है, किन्तु कोई ऐसी भय संज्ञा बैठ जाती है कि फिर चूहे का नाम भी आ जाए या चूहा दिख भी जाए तो आदमी को डर लगने लगता है। किसी को बिल्ली से डर लगता है, किसी को सर्प से तो किसी को छिपकली से डर लगता है। यह प्राणी विशेष के संदर्भ में होने वाली भय संज्ञा है। आदमी अभ्यास के द्वारा, संकल्प के द्वारा या कुछ आलम्बन के द्वारा अभय की साधना कर सकता है। हमारे पास तो नवकार मंत्र जैसा इतना पवित्र और शक्तिशाली मंत्र है, फिर हमें तो डरने की जरूरत ही नहीं है। आदमी को जब भय लगे तो जिसका जो आस्था का केन्द्र है, उसका स्मरण कर लिया जाता है तो डर की स्थिति को काफी पार किया जा सकता है। भय एक गुब्बारा है। हम उसमें सूई से छेद कर दें तो वह गुब्बारा फूट सकता है और वास्तविकता सामने आ सकती है।

तीसरा तत्त्व है—शोक। जब प्रिय का वियोग हो जाता है, तब मन में शोक भी हो जाता है। हमारी साधु संस्था में कोई दिवंगत हो जाता है तो शोक करने की प्रथा नहीं है, परन्तु गृहस्थों में यह प्रथा चलती है। गृहस्थों में कोई दिवंगत हो जाए तो कई दिनों तक उसका शोक भी रखा जाता है। शोक के बारे में मेरा विचार है कि आदमी शोक न करे, पर संयम का अभ्यास करे। कोई प्रिय व्यक्ति चला जाए तो आदमी यह सोचे कि घर में मृत्यु का प्रसंग हो गया, इसलिए सात

दिन, दस दिन अथवा अमुक समय तक हम आध्यात्मिक अनुष्ठान करेंगे, धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ेंगे, संतों के दर्शन करेंगे आदि। महामना गुरुदेव तुलसी और परमपूज्य गुरुदेव महाप्रज्ञजी का जब महाप्रयाण हुआ था, तब हमने एक सप्ताह तक आध्यात्मिक अनुष्ठान किया था। हमने शोक को दूसरा रूप दे दिया कि इस सप्ताह में विशेष रूप से गुरुदेव की स्मृतियां करें, जप करें, सभाएं करें। मन में दुःख के रूप में शोक हो सकता है, किन्तु उसको आध्यात्मिकता का रूप दे दिया जाए तो माहौल अलग बन जाता है। जब कभी मृत्यु का संवाद आता है और मैं संदेश देता हूं तो यह बात प्रायः कहता हूं कि तुम नवकार मंत्र आदि के जप का प्रयोग करो ताकि घर का धार्मिक माहौल बन जाए। इस प्रकार शोक भी एक विकार है, जो तामसी धृति का लक्षण है।

चौथा तत्त्व है—विषाद। आदमी के मन में कई बार विषाद या दुःख हो जाता है। महाभारत में जब युद्ध का प्रसंग सामने था, तब अर्जुन को भी विषाद हो गया था। उसने कहा—युद्ध में अपने लोग हैं, इनके साथ मैं कैसे लड़ूंगा? मन में एक विषाद का भाव पैदा हो गया। आदमी कई बार डिप्रेशन में चला जाता है, अवसाद में चला जाता है, यह भी विकार है और तामसी धृति का लक्षण है।

पांचवां तत्त्व है—अहंकार। आदमी यह सोचे कि जो कुछ मुझे प्राप्त हुआ है, मैं उसका उपयोग करूं या उसका त्याग करूं, संयम करूं, परन्तु उसका अहंकार न करूं। अभिमान मदिरापान के समान है। जैसे मदिरापान से उन्मत्तता आ जाती है, वैसे ही अहंकार से आदमी अन्धा बन जाता है। धन की, ज्ञान की अथवा कोई भी सम्पदा मिल जाती है तो मद आंखोंवालों को भी अंधा बना देता है, कानोंवालों को भी बहरा बना देता है। अहंकार के कारण न आदमी दूसरों की सुनता है और न किसी को सम्मान देता है। अपने आपको बहुत कुछ या सब कुछ मान लेता है। चारों ओर एक प्रकार का अन्धत्व व्याप जाता है।

गीताकार ने कहा कि मद भी एक विकार है। जो मदोन्मत्त रहता है, उसमें तामसी धृति होती है। दुष्ट बुद्धिवाला व्यक्ति अपने विकारों को छोड़ने का प्रयास नहीं करता, परन्तु ज्ञानी आदमी विकारों को छोड़ने का प्रयास करे।

२३

सात्त्विक सुख प्राप्त करो

आर्हत् वाङ्मय में एक शब्द का प्रयोग होता है—**परमाहम्मिया** अर्थात् सभी प्राणी परम सुख को चाहनेवाले होते हैं। हर जीव की आकांक्षा रहती है कि मैं सुखी रहूं। श्रीमद्भगवद्गीता में तीन प्रकार के सुख बताए गए हैं—सात्त्विक सुख, राजस सुख और तामस सुख। सात्त्विक सुख उच्चकोटि का होता है। वह परम पुनीत और परम पवित्र होता है। सात्त्विक सुख को परिभाषित करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।।१८/३७।।

जो सुख शुरु में तो विष जैसा प्रतीत होता है और अन्त में अमृत के समान होता है, जो आत्मा को स्पष्ट रूप में समझ लेने के फलस्वरूप उत्पन्न होता है, वह सात्त्विक सुख होता है।

सात्त्विक सुख वह होता है, जो आपातकटु, किन्तु परिणामपटु होता है। वह तात्कालिकता में तो अच्छा नहीं लगता, परन्तु उसका परिणाम बहुत अच्छा आता है। भविष्य में बड़ा सुख देनेवाला और शांति देनेवाला होता है। वह सुख साधनाजन्य, सेवाजन्य या कठोर जीवन जीने के अभ्यास से मिलनेवाला होता है।

भोजन के समय अनेक मनोज्ञ पदार्थ सामने हैं, उस समय खाने का संयम करना कुछ मुश्किल हो सकता है, परन्तु उस समय ऊणोदरी का अभ्यास कर लिया जाए, मन पर ब्रेक लगाया जाए, मन की हर बात न मानी जाए तो वह आपातकटु और परिणामपटु हो सकता है। हम परिणाम पर ध्यान दें कि किस स्थिति का, किस कार्य का क्या परिणाम आनेवाला है। जो परिणामदर्शी व्यक्ति

होता है, वह सात्त्विक सुखों को प्राप्त कर सकता है।

पदार्थों से जो सुख मिलता है, वह सात्त्विक सुख नहीं होता। आत्मा से जो सुख मिलता है, वह सात्त्विक सुख होता है। ज्यों-ज्यों पदार्थों के प्रति आसक्ति छूटती है, आदमी भीतर जाता है। वह सात्त्विक सुख प्राप्त कर सकता है। परमपूज्य आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की एक पुस्तक है—भीतर की ओर। हम केवल बाहर में न रहें, भीतर में आना सीखें। आत्मिक बुद्धि, परमात्मा की बुद्धि, साधना की बुद्धि से जो प्रसन्नता मिलती है और उससे जो सुख मिलता है, वह सुख सात्त्विक होता है। एक सुख राग और मोह से होनेवाला होता है। जैसे—परिवार में मोह है, पुत्रों के प्रति, पत्नी के प्रति और अन्य अनेक लोगों के प्रति मोह होता है यानी मोहमय संसार का सुख होता है, वह तात्कालिक होता है। एक अमोह का सुख होता है, जो राग-द्वेष मुक्ति से मिलनेवाला होता है। वह सुख लम्बे काल तक रहनेवाला और सात्त्विक कोटि का होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में अत्यन्त सुख की बात आती है। साधना करनेवाला व्यक्ति, राग-द्वेष-मुक्ति का अभ्यास करनेवाला व्यक्ति अत्यन्त सुखी हो जाता है और कृतार्थ हो जाता है।

सेवा करने से भी आदमी को सात्त्विक कोटि का सुख मिलता है, भले उसे सेवा करने में श्रम करना पड़े, दुःख पाना पड़े, परन्तु उसे करने में जो सुख मिलेगा, वह सात्त्विक कोटि का सुख होगा। हम केवल पदार्थों से मिलनेवाले सुखों की ओर ध्यान न दें। हम आध्यात्मिक, आत्मिक और सात्त्विक सुख पाने का प्रयास करें।

राजस सुख के विषय में श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।।१८/३८।।

जो सुख इन्द्रियों और इन्द्रिय-विषयों के संयोग से उत्पन्न होता है और जो प्रारम्भ में अमृत जैसा, किन्तु अन्त में विष जैसा लगता है, वह सुख राजसिक कहलाता है।

कुछ ऐसी स्थितियां होती हैं, जो तात्कालिक रूप में तो अच्छी लगती हैं, परन्तु उनका परिणाम भयंकर दुःखद होता है, जैसे—कोई आदमी किसी भोज में जाता है और वहां भोज्य पदार्थ बड़े मनोज्ञ हैं, इष्ट हैं, उनको अधिक मात्रा में खा लेता है। एक बार खाने में तो उसे सुख मिलता है, जिह्वा को आस्वाद आता

है, इसलिए शरीर की परवाह किए बिना खूब खा लेता है। परन्तु उसका परिणाम कटु आ सकता है, अजीर्ण हो सकता है, दस्तें लग सकती हैं, पेट में दर्द आदि भी हो सकता है, वमन भी हो सकता है। यह तकलीफ उसे इसलिए होती है कि उसने आपातपटु को देख लिया, तात्कालिक सुख में रस ले लिया, किन्तु परिणाम कितना कटु आ सकता है, उसकी परवाह नहीं की।

राजस सुख वह होता है, जो इन्द्रिय और विषय के संयोग से मिलनेवाला होता है। कान ने मनोज्ञ शब्द को सुना और सुख मिल गया। आंखों के सामने मनोज्ञ रूप आ गया, उसे देखा और सुख मिल गया। इसी प्रकार मनोज्ञ गंध, रस और स्पर्श हुआ और सुख मिल गया, उसे राजस सुख कहा गया। जिसका परिणाम दुःख है, वह सुख उत्तम कोटि का नहीं होता। सामान्यतया आदमी इन्द्रियजन्य सुखों में रचा पचा रहता है, क्योंकि हमारी इन्द्रियां ज्ञान का माध्यम भी हैं और भोग का साधन भी हैं।

आदमी जितना ज्यादा राजस सुखों में रचा-पचा रहेगा, उतना ही वह आत्मिक सुखों से दूर रहेगा। ज्यों-ज्यों वह आत्मिक सुखों में संलग्न हो जाएगा, फिर विषय-भोगों से या राजस सुखों से दूर हो जाएगा। जब आदमी को विषयों से अनाकर्षण प्राप्त होता है, तब वह आत्मा में परम तत्त्व की प्राप्ति करता है। जब परम तत्त्व की प्राप्ति करता है, तब विषयों के प्रति उसके मन में अनाकर्षण हो जाता है। आदमी राजस सुखों से अलग रहकर सात्त्विक सुखों को पाने का प्रयास करे।

साधना में आनंद आता है, वह सात्त्विक सुख होता है और विषय-भोगों में आनंद आता है, वह राजस कोटि का सुख होता है। आदमी इन्द्रिय-सुखों से विरक्त होने का और विषय-भोग संयम का अभ्यास करे तो वह धीरे-धीरे राजस सुखों से ऊपर उठता हुआ सात्त्विक सुखों की ओर आगे बढ़ सकेगा।

तामस सुख के बारे में श्रीकृष्ण कहते हैं—

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्य प्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्।।१८/३९।।

जो सुख आरम्भ और अन्त—दोनों में आत्मा को भ्रम में डाले रखता है, जो निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न होता है, वह तामसिक प्रकार का सुख कहा जाता है।

वह सुख तामस होता है, जिसके प्रारम्भ में भी मोह होता है और परिणाम

में भी मोह होता है। इसमें प्रारम्भ और अन्त दोनों में मोहित करनेवाली भावना रहती है। जिस सुख में मोह का प्राबल्य है, वह तामस सुख होता है। उदाहरण के तौर पर गीताकार ने कहा कि निद्राजन्य सुख, प्रमादजन्य सुख और आलस्यजन्य सुख—ये तीनों तामस कोटि के सुख होते हैं। कोई आदमी नींद में सुख लेनेवाला होता है। वह दिनभर का अधिक समय नींद में बिताता है। आदमी प्रयास करे तो नींद को कम किया जा सकता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने एक बार फरमाया था कि दिन में नींद नहीं लेनी चाहिए। दिन में नींद लेना शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भी अच्छा नहीं होता। हमारे संघ में साधु-साध्वियों के लिए पहले एक मर्यादा थी कि वृद्धों, बच्चों और बीमार आदि को छोड़कर सामान्य अवस्था में दिन में लेटकर नहीं सोना। इसके पीछे कारण यही था कि नींद को बहुमान न दिया जाए। ज्यादा समय स्वाध्याय, ध्यान आदि में बिताया जाए। विश्राम करना हो तो बैठे-बैठे विश्राम किया जा सकता था। यद्यपि वर्तमान में यह मर्यादा है कि दिन में पैंतालीस मिनट से अधिक नहीं सोना। निद्रा की अतिमात्रा में जो रस आता है, वह तामस सुख होता है। जो दिन में अधिकतर बैठा रहता है, सोया रहता है, काम-धन्धा नहीं करता और जिसे आलस्य में ही सुख मिलता है, वह भी तामस कोटि का सुख होता है। नशा आदि करने में या जुआ आदि खेलने में जो रस लेता है, वह एक प्रकार से प्रमाद का सुख है। वह चेतना को मोहित करनेवाला होता है, इसलिए वह तामस सुख होता है। आदमी तामस कोटि के सुख से बचे और साधक आदमी राजस सुख से भी बचे। जो आत्मा से उठनेवाला, साधना से मिलनेवाला, सेवा से मिलनेवाला सुख है, उस सात्त्विक सुख को प्राप्त करने का प्रयास करे।

२४

वर्ण व्यवस्था कर्म से हो

जैनदर्शन में सृष्टि की जो अवधारणा है, उसमें कालचक्र का सिद्धान्त है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के छह-छह अर होते हैं। कुल बारह अरोंवाला यह कालचक्र माना गया है। जैसे चक्का घूमता है, वैसे मानो काल भी घूमता है। वर्तमान में जो कालचक्र का अर्द्धभाग है, वह अवसर्पिणी काल है। इसमें धीरे-धीरे ह्रास होता जा रहा है। एक समय था, जब मनुष्य का आयुष्य तीन क्रोड़ाक्रोड़ी का होता था। वह घटते-घटते आज अधिकतम लगभग सौ-सवा सौ वर्ष तक आ गया और आगे वह बीस वर्ष तक रह जाएगा। एक समय था, जब मनुष्य की ऊंचाई उत्सेध अंगुल के अनुसार तीन कोस जितनी लम्बी हुआ करती थी। वह लम्बाई कम होते-होते आज लगभग साढ़े तीन हाथ की हो गई और भविष्य में वह एक हाथ से भी कुछ कम रह जाएगी। इस अवसर्पिणी काल में सब चीजों का ह्रास हो रहा है। साधना का भी ह्रास हो रहा है। एक समय था, जब केवलज्ञानी संत होते थे, आज वह स्थिति समाप्त हो गई। केवलज्ञानी संतों का होना हमारे यहां बन्द हो गया। इस अवसर्पिणी काल के बाद चक्का घूमेगा और वापस विकास का क्रम शुरु हो जाएगा। फिर आयुष्य भी बढ़ जाएगा, लम्बाई भी बढ़ जाएगी और साधना में भी विकास होगा। वर्तमान अवसर्पिणी काल में भगवान् ऋषभ से पहले यौगलिक काल था। उस समय एक मां-बाप दो ही संतान पैदा करते थे—एक लड़का और एक लड़की। यह निश्चित क्रम था। उस समय समाज जैसी व्यवस्था नहीं थी। वर्तमान जैसी शादी की व्यवस्था भी नहीं थी। उस समय जो भाई-बहन होते, वे ही आगे जाकर पति-पत्नी बन जाते। फिर समाज की व्यवस्था बनाई गई। सामाजिक व्यवस्था में चार वर्णों की स्थापना की गई—क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र। चारों के अपने-अपने कार्य निश्चित किए गए। श्रीमद्भगवद्गीता में ब्राह्मण का कर्त्तव्य बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।१८/४२।।

आत्म-संयम, इन्द्रिय-नियमन, तपस्या, पवित्रता, सहनशीलता, ऋजुता, ज्ञान, विज्ञान और धर्म में श्रद्धा—ये ब्राह्मण के स्वाभाविक गुण हैं।

गीताकार के अनुसार ब्राह्मण वह होता है—

- जो आत्मसंयम की साधना करता है।
- जो इन्द्रियों का नियमन करने की साधना करता है।
- जो तपस्या करता है।
- जो शुद्धि रखता है।
- जो क्षमा की साधना करता है।
- जो ऋजुता की साधना करता है।
- जो ज्ञान-विज्ञान की आराधना करता है और शास्त्रों का ज्ञाता होता है।
- जो आत्मा-परमात्मा, पुण्य-पाप आदि में विश्वास रखनेवाला होता है।

जन्मना ब्राह्मण होना एक बात है, परन्तु कर्मणा ब्राह्मण होने के लिए गीता की दृष्टि में इन अनेक गुणों को धारण करना आवश्यक होता है। ब्राह्मण में उपरोक्त गुणों के साथ-साथ उपशम का विकास होना चाहिए। यह नहीं हो कि वह जब कभी गुस्से में आ जाए और इन्द्रियों का दास बन जाए। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया कि **कम्मुणा बंभणो होइ** अर्थात् ब्राह्मण का जो कर्म निर्धारित है, उसका आचरण करने से वह ब्राह्मण कहलाता है और यह भी कहा गया कि **न ओंकारेण बंभणो** अर्थात् केवल ओंकार का जप करने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता। गीता और जैन परम्परा में ओंकार या ओम् का बड़ा महत्त्व माना गया है। जैनदृष्टि से विचार करें तो एक ॐ में पंच परमेष्ठी समाविष्ट हो जाते हैं—अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनि।

पातंजल योगदर्शन में ॐ को परमात्मा का वाचक शब्द माना गया है। ओम् का जप करना अच्छा है, पर मात्र ओम् का जप करे और गुण व कर्म अगर वैसे न हों तो ब्राह्मण कहलाने का वह पूरा अधिकारी नहीं बनता। संस्कृत साहित्य में ब्राह्मण का एक नाम द्विज आया है। ब्राह्मण को गीता की इन बातों

पर ध्यान देना चाहिए कि ये बातें मेरे में हैं तब तो मैं ब्राह्मण कहलाने का पूरा अधिकारी हूं, वरना अधिकार में कुछ कमी रह जाती है। ब्राह्मण अपने गुणों से ब्राह्मण बनने का प्रयास करे।

क्षत्रिय के कर्त्तव्य के बारे में श्रीकृष्ण कहते हैं—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।१८/४३।।

वीरता, तेज, धीरता, सूझबझ, युद्ध से मुंह न मोड़ना, दानशीलता और नेतृत्व—ये क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्त्तव्य हैं।

पहली बात बताई गई कि क्षत्रिय में शौर्य होना चाहिए। कायरता तो क्षत्रिय का शत्रु है। निडरता और शूरवीरता क्षत्रिय के लिए आवश्यक है। क्षत्रिय युद्ध करने के लिए जाए और बीच में भाग जाए तो वह क्षात्रधर्म से च्युत हो जाता है। यौद्धा युद्ध में लड़ते-लड़ते मर जाए तो उसके लिए गौरव की बात है, परन्तु कोई क्षत्रिय योद्धा युद्ध के प्रांगण से पलायन कर दे तो उसके लिए शर्म की बात होती है।

दूसरी बात बताई गई कि क्षत्रिय में तेजस्विता होनी चाहिए। वह बुझी हुई अग्नि के समान न हो। जलता हुआ अंगारा बनकर जीना तो मुहूर्त्तभर का भी अच्छा होता है और बुझी हुई अग्नि या धूआं बनकर लम्बे काल तक जीना भी अच्छा नहीं होता। क्षत्रिय में शक्तिमत्ता होनी चाहिए। उसमें क्षात्रधर्म का तेज बोलना चाहिए, कभी दौर्बल्य नहीं आना चाहिए। बारहवें वासुदेव त्रिपृष्ठ बड़े तेजस्वी थे। क्षत्रिय को जैसा होना चाहिए, वे गुण उनमें थे। एक बार वे जिस राजा की अधीनता में थे, उस क्षेत्र में एक शेर का आतंक पैदा हो गया। यह व्यवस्था की गई कि एक-एक राजा बारी-बारी से खेतों में पहरा देगा और किसानों की शेर से रक्षा करेगा। एक दिन त्रिपृष्ठ वासुदेव के पिता प्रजापति का नम्बर आया। प्रजापति जाने को तैयार हुआ, तब त्रिपृष्ठ ने कहा—पिताजी! इतने छोटे-से काम के लिए आपको जाना पड़े, यह बात उचित नहीं है। रावण को मारना हो तब तो राम-लक्ष्मण जाए, पर छोटे-मोटे राक्षस को मारने के लिए भी राम जाए, यह ठीक नहीं है। इतना काम तो उनके अनुचर भी कर सकते हैं। एक शेर की ही तो बात है, उसके लिए आपको पधारना पड़े, यह तो हम पुत्रों के लिए लज्जा की बात है। आप हमें आज्ञा दें, हम जाएंगे। पिता ने सोचा, पुत्र बड़ा कुशल है। पुत्र योग्य हो तो पिता को क्या चिन्ता? त्रिपृष्ठ रवाना हुआ।

उसने सोचा, आज मैं ऐसा काम करूं कि सबके लिए समस्या का हल हो जाए, किसी को फिर बारी में जाना ही न पड़े। त्रिपृष्ठ ने पूरी जानकारी कर ली कि शेर कहां रहता है। फिर वह शेर की गुफा की ओर आगे बढ़ा। गुफा के निकट जाकर उसने नाद किया। नाद सुनते ही शेर उत्तेजना में आ गया और गुफा से बाहर निकला। शेर राजकुमार की ओर सामने जाने लगा। राजकुमार ने सोचा कि शेर तो पैदल आ रहा है और मैं रथ में बैठा हूं, यह तो बराबरी की बात नहीं है। त्रिपृष्ठ भी पैदल चलने लगा। फिर देखा कि शेर के पास कोई शस्त्र नहीं है, फिर मैं हाथ में शस्त्र क्यों रखूं। उसने शस्त्रों को भी छोड़ दिया। अब शेर और त्रिपृष्ठ दोनों बिल्कुल आमने सामने हो गए। शेर तो हिंस्र पशु होता ही है, वह त्रिपृष्ठ की ओर लपका। त्रिपृष्ठ बड़ा जागरूक था। उसने शेर के जबड़े को पकड़ा। जबड़े को पकड़कर इस तरह चीर डाला, जैसे किसी पुराने बांस को चीरा हो। कुछ ही क्षणों में शेर का प्राणान्त हो गया। प्रजापति को बधाइयां मिलने लगीं कि आपके पुत्र ने सबके लिए समस्या का हल कर दिया। कहने का मतलब है कि त्रिपृष्ठ में कितना क्षात्रतेज और कितना शौर्य था।

तीसरी बात बताई गई कि क्षत्रिय में धैर्य होना चाहिए। उसे अधीरता नहीं करनी चाहिए। आदमी को समझकर काम करना चाहिए। उत्तेजना में, आवेश में कोई काम नहीं करना चाहिए।

चौथी बात बताई गई कि क्षत्रिय में दक्षता होनी चाहिए, कार्यकौशल होना चाहिए। अगर वह राजा है तो राज्य संचालन करने की दक्षता होनी चाहिए। क्षत्रिय अपने कर्त्तव्य का भलीभांति निर्वाह करे।

पांचवीं बात बताई गई कि क्षत्रिय वह होता है, जो युद्ध के समरांगण से हटता नहीं, मुकाबला करता है और निडरता से आगे बढ़ता है। वह देश के लिए प्राण न्यौछावर करने को तैयार रहता है। हम साधु हैं, आत्मा का साम्राज्य पाने के लिए साधना कर रहे हैं। हमारे मन में भी इतना संकल्प होना चाहिए कि आत्म-साम्राज्य पाने के लिए हमारे प्राण भले चले जाएं, किन्तु हम अपनी साधना से कभी पलायन न करें।

छठी बात बताई गई कि क्षत्रिय में उदारता होनी चाहिए। वह कंजूस नहीं होना चाहिए। जो मुंह का जवाब देनेवाला नहीं, हाथ का जवाब देने की वृत्तिवाला होता है तो मानना चाहिए उसमें क्षात्रधर्म है। एक धनवान व्यक्ति के पास कोई भिखमंगा आया और भीख मांगने लगा। धनवान व्यक्ति ने कहा—मैं

तुम्हें पैसा तो दे दूंगा, पर तुम हमेशा भिखमंगे ही बने रहो, यह मैं नहीं चाहता। मैं चाहता हूं कि तुम भी स्वावलम्बी बनो। मेरे से कुछ पैसे ले लो और जंगल में जाओ, वहां लकड़ियां काटो, उन्हें बेचो, मजदूरी करो, पैसा कमाओ और अपना काम चलाओ। तुम हमेशा भिखमंगे मत रहो। क्षत्रिय की दानशीलता ऐसी हो कि वह भिखमंगे को हमेशा भिखमंगा ही न रहने दे, अपने सहयोग के द्वारा उसको अपने पैरों पर खड़ा कर दे। हर व्यक्ति अपने कर्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहलाने का अधिकार प्राप्त करे।

वैश्य और शूद्र के कर्त्तव्य के बारे में बताते हुए गीताकार कहते हैं–

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।१८/४४।।

कृषि, गौरक्षा और व्यापार–ये वैश्य के स्वाभाविक कर्त्तव्य हैं। शूद्र का स्वभाविक कर्त्तव्य सेवा का कार्य करना है।

खेती बाड़ी से आजीविका चलानेवाला, गौरक्षा का काम करनेवाला, व्यापार करनेवाला व्यक्ति वैश्यकर्म कर्ता होता है। व्यापार भी एक प्रकार की सेवा होती है। व्यापार के माध्यम से पैसा कमाना स्वयं के लिए लाभ की बात है, किन्तु हम गहराई में जाएं तो व्यापार के माध्यम से वस्तु वितरण होता है और वस्तु वितरण के माध्यम से जनता की अपेक्षापूर्ति होती है, इसलिए व्यापार से जनता की सेवा होती है। व्यापारी को यह सोचना चाहिए कि मैं केवल पैसा कमाने पर ही ध्यान न दूं, मैं जनता की सेवा करूं। जनता की सेवा तब अच्छी होगी, जब व्यापारी ईमानदारी रखेगा। ईमानदार व्यापारी की दुकान विश्वस्त बन जाती है और Long Term में देखें तो जहां विश्वास जम जाता है, उस व्यापारी का व्यापार भी अच्छा चलने की संभावना रहती है। जिस व्यापारी का विश्वास खत्म हो जाता है फिर लोग वहां जाने से कतराते हैं, इसलिए परमपूज्य गुरुदेव तुलसी ने व्यापारियों के लिए भी अणुव्रत की बात कही। उन्होंने कहा–व्यापार में मिलावट न करें। असली दिखाकर नकली देने का प्रयास न करें और अप्रामाणिकता से बचने का प्रयास करें। यह व्यापारी का धर्म है। जैन वाङ्मय में कहा गया–**धम्मेणं वित्तिं कप्पेमाणा** अर्थात् धर्मपूर्वक जीविका कमाना। आदमी धर्मस्थान में धर्म करे, यह अच्छी बात है, पर बाजार में भी धर्म का प्रभाव रहे, यह खास बात है। उपासना स्थल में अलग तरह का धर्म होता है। उसका अपना विधि विधान है, वह होना कोई बुरी बात नहीं है, परन्तु बाजार का धर्म है–करुणा, ईमानदारी आदि। बाजार में अथवा दुकान में

अगर करुणा है, ईमानदारी आदि है तो मानना चाहिए कर्मस्थान में भी धर्म हो रहा है।

खेती में अहिंसा का प्रयोग हो, यह ध्यान देना चाहिए। कृषि के कार्य में शुद्धि रहे। दवा आदि का प्रयोग करने से अनेक जीव मर जाते हैं। जब मैं मध्यप्रदेश की यात्रा में था, तब एक गांव में गया। मैं कुछ देर के लिए वहां रुका। अनेक किसान लोग मेरे पास आए। उनमें से एक भाई खड़ा हुआ और बोला—बाबाजी! हम तो पापी लोग हैं। हम खेती करते हैं और खेती में दवा का प्रयोग करते हैं, जिससे असंख्य जीव मर जाते हैं। आप हमें कोई प्रायश्चित्त दें ताकि उस हिंसा का पाप साफ हो जाए। फिर मैंने सोचा कि खेती में किस प्रकार अहिंसा का विकास हो, यह शोध का अच्छा विषय है। बाद में मैंने सुना कि खेती में जीव ज्यादा न मरे या अहिंसा का ध्यान रखा जा सके, ऐसे प्रयोग भी हो रहे हैं। वैसे तो हर प्राणी के प्रति अहिंसा की भावना रहे, किन्तु गीताकार ने गौरक्षा की बात विशेष रूप से कही है। वैश्यकर्म में शुद्धि रहे, यह ध्यान रखने का प्रयास करना चाहिए।

शूद्र का कर्म है—सेवा करना। क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य—इन सबकी सेवा करना शूद्र का धर्म या कर्म है। सेवा अपने आपमें बड़ा महत्त्वपूर्ण उपक्रम होता है। सेवा के द्वारा आदमी के मन को जीता जा सकता है। सेवा के द्वारा दूर हो चुके व्यक्ति को निकट लिया जा सकता है। जब किसी में उदारता होती है, परोपकार की भावना होती है, कर्त्तव्य भावना होती है, तब कोई आदमी सेवा कर सकता है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी इन चार वर्णों की चर्चा की गई है। गीता और उत्तराध्ययन में कुछ बातों में बहुत समानता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया—**वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा** अर्थात् कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है। आदमी जिस किसी कर्म का पालन करे, उसके साथ धर्म को जोड़ने का प्रयास करे। कर्म और धर्म दोनों साथ हो जाएं तो कर्म शुद्ध हो जाता है।

२५

कर्तव्यसिद्ध बनो

दुनिया में सबसे बड़ा कोई मंगल है तो वह धर्म है। धर्म से बड़ा कोई मंगल नहीं है। जीवन में धर्म है तो मानना चाहिए मंगल हमारे भीतर है और जीवन में अधर्म है तो मानना चाहिए अमंगल हमारे साथ है। धर्म भी कौनसा? वह धर्म है—अहिंसा, संयम और तप। धर्म का पहला तत्त्व है—अहिंसा। किसी प्राणी को न मारने की भावना, दूसरों को दुःख न देने की भावना और जो व्यवहार मैं दूसरों से नहीं चाहता, वह व्यवहार मैं भी दूसरों के साथ नहीं करूंगा, यह अहिंसा का संकल्प है। हमारे भीतर दया है, अनुकम्पा है तो मानना चाहिए। अहिंसा की भावना है। धर्म का दूसरा तत्त्व है—संयम। जिसमें इन्द्रियों का संयम है, मन, वाणी और काय का संयम है, नशा आदि से मुक्त जीवन है, इसका मतलब जीवन में संयम है। धर्म का तीसरा तत्त्व है—तप। जैन परम्परा में तप के बारह प्रकार बताए गए हैं—अनशन, ऊनोदरी आदि। न खाना भी तपस्या है तो स्वाध्याय करना, ध्यान करना भी तपस्या है। तपस्या जीवन में है तो मानना चाहिए मंगल जीवन में है। सारांश यह है कि जो आदमी अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक है, वह धर्म के निकट है या धर्म उसके जीवन में है। जो व्यक्ति अपने कर्त्तव्य पर ध्यान नहीं देता, वह व्यक्ति कई बार पाप के गर्त में गिर जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता के अठारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।१८/४५।।

अपने-अपने काम में लगा हुआ प्रत्येक व्यक्ति सिद्धि (पूर्णता) को प्राप्त कर लेता है। अब तुम यह सुनो कि किस प्रकार अपना कर्त्तव्य करते हुए मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है।

जो अपने-अपने कर्म और कर्त्तव्य में अभिरत है, जागरूक है, वह व्यक्ति

सफलता को प्राप्त हो जाता है। जो अपने कर्तव्य का निर्वाह नहीं करता, जैसे—एक पिता पुत्र के प्रति अपने कर्त्तव्य को नहीं निभाता है, पुत्र पिता के प्रति अपने कर्त्तव्य को नहीं निभाता है, शिष्य गुरु के प्रति कर्त्तव्य को नहीं निभाता है, गुरु शिष्य के प्रति कर्त्तव्य को नहीं निभाता है, मां पुत्र के प्रति कर्त्तव्य को नहीं निभाती है, पुत्र मां के प्रति कर्त्तव्य को नहीं निभाता है तो वह कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है। कुछ कर्त्तव्य विशुद्ध आध्यात्मिक होते हैं, कुछ लौकिक होते हैं। लौकिक कर्त्तव्यों से च्युति होना कई बार पाप की ओर ले जानेवाला भी हो सकता है। सरकार में काम करनेवाले व्यक्ति का फर्ज है प्रजा की सेवा करना। वह यदि सेवा न करे और अपना घर भरना शुरू कर दे तो वह कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है। परमपूज्य गुरुदेव तुलसी ने अणुव्रत के माध्यम से कहा—आदमी के जीवन में नैतिकता आनी चाहिए, संयम आना चाहिए, भले वह किसी धर्म सम्प्रदाय को माने अथवा किसी को न माने, किसी को गुरु माने अथवा किसी को न माने, यह बाद की बात है। मूल बात है कि आदमी के जीवन में नैतिकता, संयम, ईमानदारी होनी चाहिए।

जैन वाङ्मय में कहा गया कि धर्म उत्कृष्ट मंगल है। धर्म केवल यहीं मंगल नहीं है, वह अगले जन्म में भी काम आता है। पैसा अगले जन्म में साथ नहीं चलता, संबंधी लोग भी साथ नहीं जाते, परन्तु धर्म आदमी के साथ जाता है। गुरुदेव तुलसी ने एक गीत में कहा है—

एक नयो पैसो भी थांरै नहीं चालसी सागै रे।
कर्‌या आपरा करमा स्यूं ही सुख-दुःख मिलसी आगै रे।
संयम रै मारग पर चाल्यां तुलसी निश्चित है निस्तारो।
चेतन! चिदानन्द चरणां मैं सब कुछ अर्पण कर थांरो।।

एक पैसा भी आदमी के साथ नहीं चलता। अपने जो किए हुए कर्म हैं उनसे ही आदमी को सुख-दुःख मिलता है। इसलिए आदमी यह सोचे कि मैं अपने धार्मिक कर्त्तव्य के प्रति जागरुक बना रहूं।

किसी कवि ने ठीक कहा—

जिन्दगी में खूब कमाए हीरे मोती।
मगर क्या करें हे दोस्त! कफन में जेब नहीं होती।

कफन में जेब नहीं होती, परन्तु आत्मा के जेब होती है। उस जेब में पुण्य-पाप साथ चले जाते हैं। आदमी यह सोचे कि मैं अपने जीवन में पाप से

बचने का प्रयास करूं। अच्छा काम करनेवाले व्यक्ति के जीवन में पुण्य का संचय होता है। यद्यपि पुण्य-संचय की बात तो गौण होती है, मूल चीज है आत्मा की शुद्धि होना। आत्मशुद्धि के लिए अपने जीवन में अहिंसा, संयम और तपस्या—इस त्रयी की आराधना करें। इस त्रयी की आराधना करना वर्तमान जीवन के लिए भी मंगलकारी है और परलोक के लिए भी मंगलकारी है।

आदमी कभी अच्छा या बुरा नहीं होता है। आदमी में गुणवत्ता का विकास होने पर, अच्छाइयां होने पर वह अच्छा बन जाता है और बुराइयां होने पर वह बुरा बन जाता है।

जिसमें गुण होते हैं, विशेषताएं होती हैं, अच्छाइयां होती हैं, वह व्यक्ति साधु पुरुष होता है और जिसमें अवगुण होते हैं, दुर्गुण होते हैं, वह व्यक्ति असाधु होता है। आदमी के जीवन का लक्ष्य बनना चाहिए कि मैं अपने जीवन में गुणों का विकास करूं और जो कमियां हैं, उन्हें छोड़ने का प्रयास करूं। संत जगह-जगह जाते हैं और कथा, व्याख्यान, प्रवचन आदि करते हैं। उनका यह चिन्तन रहता है कि हम जनता को कुछ रास्ता बता सकें तो हमारे लिए आत्मतोष की बात होगी। यदि जनता साधु की बात स्वीकार न भी करे तो उसे तो जनता की सेवा का लाभ मिल ही जाएगा, साधु को तो पुण्य का फल, निर्जरा का फल मिल ही जाएगा। यद्यपि पुण्य की वांछा नहीं करनी चाहिए। वह तो सहज में हो जाता है। वांछा तो निर्जरा की करनी चाहिए कि मेरे कर्मों की निर्जरा हो, मेरे कर्म कटे और मेरी आत्मा मोक्ष की ओर अग्रसर हो। अध्यात्म की भावना से ओतःप्रोत संत अहिंसा का जीवन जीते हुए, महाव्रतों की साधना करते हुए, संयम का जीवन जीते हुए धर्मोपदेश करते हैं। इस प्रकार वे स्वयं अपनी साधना करते हुए जनता में अच्छाइयों का विकास हो, गुणों का विकास हो, इस पर ध्यान देते हैं।

आदमी अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरुक रहे तो अच्छाइयों का विकास हो सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्।।१८/४७।।

अपना धर्म यदि अपूर्ण ढंग से भी पालन किया जा रहा हो तो भी वह दूसरे के धर्म से, जिसका पालन पूर्णता के साथ किया जा सकता है, अधिक अच्छा

है। अपने स्वभाव के द्वारा नियत किए गए कर्त्तव्य का पालन करनेवाले व्यक्ति को पाप नहीं लगता।

शूद्र का काम है सफाई करना। वैश्य का काम है व्यापार करना। क्षत्रिय का काम है रक्षा करना। ब्राह्मण का काम है शास्त्रों का पठन-पाठन करना। सबके अपने-अपने काम हैं। हम भले किसी काम को छोटा मान लें और किसी काम को बड़ा मान लें, पर गीताकार कहते हैं कि अपना जो कर्त्तव्य है, वह कैसा भी है, श्रेयस्कर है। अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहना आदमी का फर्ज होता है। अपने कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक न रहना कमजोरी की बात हो जाती है। गांव के मुखिया होते हैं, उनका कर्तव्य है कि गांव के विकास पर ध्यान देना और गांव की समस्याओं का समाधान करना। लोगों ने किसी को सरपंच बनाया, किसी को एम.एल.ए. आदि बनाया है तो उनको यह आशा है कि वे जनता की सेवा करेंगे। यदि पद पर आने के बाद कोई जनता की सेवा न करे और अपना घर भरना शुरु कर दे तो वह जन प्रतिनिधि भी कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है। हम जीवन में अच्छाइयों को बढ़ाएं, अपने कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक रहें तो हमारा कल्याण हो सकेगा।

२६

आत्मकर्तृत्व को जानो

जैनदर्शन ने आत्मकर्तृत्ववाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उसके अनुसार आत्मा सुख-दुःख की कर्ता है और आत्मा ही सुख-दुःख की भोक्ता है। आत्मा जैसा कर्म करती है, वैसा फल उसे मिल जाता है। आत्मकर्तृत्ववाद में ईश्वरवाद को स्वीकार नहीं किया गया। सृष्टि का कर्ता-हर्ता भी ईश्वर को नहीं माना गया। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया।।१८/६१।।

हे अर्जुन! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में निवास करता है और वह उन सबको अपनी माया से उनके कर्मानुसार इस प्रकार घुमा रहा है मानो वे किसी यंत्र पर चढ़े हुए हों।

इसमें ईश्वरवाद का दर्शन होता है। जैनदर्शन ईश्वरवाद को सर्वथा अस्वीकार करता है। आचार्य उमास्वाति ने सापेक्षवाद में कह दिया कि जैनदर्शन भी ईश्वर के कर्तृत्व को स्वीकार करता है। उन्होंने कहा—

पारमैश्वर्ययुक्तत्वाद् आत्मैव मत ईश्वरः।
स च कर्त्तेति निर्दिष्टं कर्तृवादो व्यवस्थितः।।

जैनदर्शन मानता है कि आत्मा में परम शक्ति है। आत्मा ही परम ईश्वर है। आत्मा कर्मों की कर्ता होने पर भी हमने आत्मा को ही ईश्वर मान लिया। इस संदर्भ में जैनदर्शन भी ईश्वर कर्तृत्व को स्वीकार कर लेता है। आखिर बात आत्मा पर ही ठहरती है कि आत्मा कर्मों की कर्ता-हर्ता-भोक्ता है। जैनविद्या में कर्म वे पुद्गल माने गए, जिनको आत्मा अपनी प्रवृत्ति के द्वारा, परिणामों के द्वारा आकृष्ट करती है और जो पुद्गल आत्मा के साथ घुल मिल जाते हैं।

कर्मवाद एक प्रकार का भाग्यवाद भी है। हमारे जीवन में भाग्य का भी महत्त्व है और पुरुषार्थ का भी महत्त्व है। विद्वान आदमी वह है, जो न तो एकान्त भाग्यवादी बने और न एकांत पुरुषार्थवादी बने।

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः दैवं हि दैव इति कापुरुषा वदन्ति।
विहाय कुरु पौरुषमात्मशक्त्या यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्रं दोषः।।

जो पुरुषार्थशील आदमी होता है, लक्ष्मी उस पुरुष का वरण करती है। जो भाग्य को ही प्रधान मानकर चलते हैं, उन्हें कायर पुरुष कहते हैं। कवि ने कहा—तुम भाग्य की बात को छोड़कर अच्छा पुरुषार्थ करो। पुरुषार्थ करने पर भी यदि सफलता न मिले तो फिर तुम्हारा कोई दोष नहीं। तुमने अपना काम कर लिया। आदमी पुरुषार्थ को बिल्कुल न माने तो काम कैसे चलेगा? यदि आदमी यह सोचकर एक जगह बैठ जाए कि भाग्य में लिखा है तो अपने आप मुझे मिल जाएगा। मैं कोई काम नहीं करूंगा, ऐसा चिन्तन करनेवाले व्यक्ति का जीवनयापन कैसे होगा? आदमी पुरुषार्थ करे, फिर सोचे कि जो मिलना होगा वह मिल जाएगा। पुरुषार्थ न करे तो कर्त्तव्य में कमी रह जाती है। यद्यपि पुरुषार्थ की भी अपनी सीमा है। पुरुषार्थ करने पर भी सब कुछ नहीं मिलता।

जैनविद्या में दो शब्द आते हैं—भव्य और अभव्य। कोई व्यक्ति कितना ही पुरुषार्थ कर ले, वह अभव्य को कभी भव्य नहीं बना सकता। पुरुषार्थवाद अपनी सीमा में ठीक है और भाग्यवाद अपनी सीमा में ठीक है। वैसे भाग्य भी पुरुषार्थ से किसी न किसी रूप में जुड़ा हुआ होता है। हमने अतीत में कोई अच्छा पुरुषार्थ किया है, वह वर्तमान का हमारा भाग्य बना हुआ है। वर्तमान में अच्छा पुरुषार्थ करेंगे, वह अच्छा भाग्य बन सकेगा। इस प्रकार पुरुषार्थ और भाग्य दोनों में गहरा संबंध है।

जैनदर्शन के मुख्य सिद्धान्त चार हैं—आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद। इन चार वादों में जैनदर्शन काफी समाविष्ट हो गया। कर्मवाद जैनदर्शन का एक मुख्य स्तम्भ है। जैन वाङ्मय में कर्मवाद के बारे में बहुत विस्तार और बहुत सूक्ष्मता से बताया गया है। कर्म आठ हैं। इन आठ कर्मों के दो विभाग किए गए हैं—घात्य कर्म और अघात्य कर्म। चार घात्य कर्म हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय। ये चार कर्म आत्मा के मूल गुणों की घात करने वाले हैं, आत्मा के मूल गुणों का नाश करनेवाले हैं। शेष चार कर्म अघाती हैं, क्योंकि उनके द्वारा आत्मा के मूलगुणों का नाश नहीं होता। वे मात्र अपना फल देते हैं। जो घाती कर्म हैं, वे एकान्त पाप कर्म होते

हैं। जो अघाती कर्म हैं, वे पुण्य के रूप में भी फल देते हैं और पाप के रूप में भी फल देते हैं। घाती कर्मों में भी सबसे महत्त्वपूर्ण मोहकर्म है, इसलिए आठ कर्मों में राजा का स्थान मोहकर्म को दिया गया। हमारी आत्मा के पाप लगने का जिम्मेदार मोहकर्म ही है, इसलिए जिस व्यक्ति ने मोहकर्म को वश में कर लिया, मोहकर्म को क्षीण कर लिया, इसका मतलब वह पाप कर्मों से बच गया। जैनदर्शन के संदर्भ में मोहकर्म पर ध्यान देना और उसको कमजोर बनाने की साधना करना, यही धर्म की साधना है।

दो प्रकार के भाव होते हैं—औदयिक भाव और क्षायोपशमिक भाव। जब आदमी गुस्से में आ जाता है, लोभ में आ जाता है, विकार में आ जाता है, तब मोहकर्म का उदय होता है। जब क्षयोपशम भाव रहता है, तब विकार शांत रहते हैं। उदय भाव और क्षयोपशम भाव का संघर्ष चलता रहता है। क्षयोपशम भाव शांत करने का प्रयास करता है और उदय भाव उत्तेजित करने का प्रयास करता है। उदय भाव तो उदय में लाने का काम करता है और क्षयोपशम भाव उस उदय को कमजोर बनाने का, रोकने का काम करता है। दोनों ओर से विरोधी प्रयास होते हैं। जिनको सर्वाईकल या स्पोंडेलाईटिस होता है, उनको कई विरोधी एक्सरसाईज बताई जाती हैं, जैसे—मस्तक को आगे की ओर किया जाता है, किन्तु हाथ से उसे पीछे की ओर दबाव दिया जाता है। भाव के संबंध में भी यही बात होती है। उदय भाव का प्रयास रहता है कि मैं उत्तेजना दूं। क्षयोपशम भाव उसे रोकने का प्रयास करता है। दोनों ओर से विरोधी प्रयास होता है। हम उदय भाव को कमजोर और क्षयोपशम भाव को प्रबल बनाएं। हमें जो सुख दुःख मिलता है, उसकी जिम्मेदार हमारी आत्मा है। पुण्य के योग से आदमी को भौतिक सुख मिल जाता है और पाप के योग से दुःख मिल जाता है। हम आत्मा का संयम करें। पाप कर्मों के बंध से बचें तो हम दुःख का नाश कर सकेंगे और परम सुखों को प्राप्त कर सकेंगे।

२७

ज्ञानयज्ञ करो

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः।।१८/७०।।

जो व्यक्ति हमारे इस धर्ममय संवाद का अध्ययन करेगा, मैं ऐसा समझता हूं कि वह ज्ञानयज्ञ द्वारा मेरी पूजा कर रहा होगा।

श्रीकृष्ण ने कहा—अर्जुन! हम दोनों का यह जो धार्मिक संवाद हुआ है, वह गीता के रूप में ग्रन्थ बना है। इस ग्रन्थ को जो व्यक्ति पढ़ेगा, मनन करेगा, वह ज्ञानयज्ञ करेगा और ज्ञानयज्ञ के द्वारा वह अनायास ही मेरी पूजा करेगा, ऐसा मैं मानता हूं। ज्ञान को भी एक प्रकार से भगवद्-भक्ति के तुल्य माना गया। ज्ञान की उपासना करना एक प्रकार से आत्मा की उपासना करना ही है। संस्कृत साहित्य में कहा गया है—

ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या, ते यजन्तेञ्जसा जिनम्।
न किञ्चिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयोः।।

जो ज्ञान की भक्ति करता है, वह एक प्रकार से भगवान् की, तीर्थंकर की भक्ति करता है, क्योंकि ज्ञान में और तीर्थंकर में काफी समानता है। तीर्थंकर में केवलज्ञान होता है, इसलिए ज्ञान की भक्ति करना तीर्थंकरों के ही एक अंग की भक्ति करना है। इधर गीता-ग्रन्थ है, उधर उत्तराध्ययन-आगम है। दोनों ग्रन्थ सन्देश देते हैं कि जीवन में अनासक्ति का अभ्यास करो, राग और द्वेष को छोड़ने की साधना करो, समता का अभ्यास करो। शास्त्रों को पढ़ने से ज्ञान बढ़ता है। ज्ञान बढ़ने के साथ-साथ यदि हमारा आचरण पवित्र बन जाए, हमारे भाव शुद्ध हो जाएं और निष्कर्ष की भाषा में यों कहा जा सकता है कि हमारे

राग-द्वेष कम हो जाएं तो हमारे जीवन की सार्थकता हो जाती है। राग और द्वेष ऐसे भाव हैं, जो हमें आत्मस्थ रहने से दूर कर देते हैं।

गीताकार के अनुसार आदमी ज्ञानयज्ञ के द्वारा भगवद्-भक्ति करता है और भगवद्-भक्ति या कर्म निर्जरा आत्मा के लिए कल्याणकारी होती है। अतः आदमी को सम्यक् ज्ञान का विकास और आगम आदि शास्त्रों का स्वाध्याय करने का प्रयास करना चाहिए।

आर्हत् वाङ्मय में भगवती सूत्र के दूसरे शतक में बताया गया है कि साधुओं की, समण-निर्ग्रन्थों की पर्युपासना करने से दस लाभ होते हैं—

सवणे नाणे य विण्णाणे, पच्चक्खाणे य संजमे।
अणण्हए तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धी।।

जो व्यक्ति साधुओं के आस-पास बैठता है, उनकी पर्युपासना करता है, उसे पहला लाभ यह होता है कि ज्ञान की बात सुनने का मौका मिलता है। व्याख्यान सुनना, ज्ञान की बात श्रवण करना, तत्त्वज्ञान आदि की वार्ता सुनना ज्ञान का साधन भी है और एक साधना भी है। श्रीमद्भगवद्गीता में सुनने को भी महत्त्वपूर्ण बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्।।१८/७१।।

जो मनुष्य श्रद्धा के साथ बिना ईर्ष्या किए इस संवाद को सुनेगा, वह भी मुक्त होकर पुण्यात्माओं के आनन्दमय लोकों में पहुंच जाएगा।

जो व्यक्ति गीता के उपदेश को सुनता है या श्रद्धा से उसका पाठ करता है तो उसे बहुत लाभ मिलता है। वह पापों से मुक्त हो सकता है, पुण्य का बंध कर सकता है और मृत्यु के बाद पुण्य कर्मवाले व्यक्तियों के लोक में चला जाता है। कथन का तात्पर्य है कि ज्ञान की बात को सुनना अच्छा है। लोग प्रवचन-कथा आदि सुनते हैं। वे धर्मस्थान में सुनने के लिए लम्बे समय तक बैठे रहते हैं। उतने समय के लिए वे संसार के अनेक पापों से बचे हुए रहते हैं। वहां न झूठ बोलने का, न चोरी करने का, न कोई हिंसा करने का मौका मिलता है।

सुनने से ज्ञान बढ़ता है। रोज कोई न कोई ज्ञान की बातों को सुनता है तो कई जानकारियां पुष्ट हो जाती हैं और नया ज्ञान भी मिल जाता है। बार-बार सुनने से कोई बात आदमी जीवन में धारने की भी सोच सकता है। अच्छी बात जीवन में धारण करने से कितनों का कल्याण हो सकता है। अच्छे वक्ता को

ध्यान से सुनें तो बोलने की कला का भी विकास हो सकता है। व्याख्यान सुनते-सुनते आदमी प्रवक्ता बन सकता है।

गुरुदेव श्री तुलसी के समय से हमारे यहां प्रायः प्रातःकाल प्रतिदिन चौबीसी का एक गीत गाया जाता है। मेरा खयाल है कि अनेक-अनेक संतों को रोज सुनते-सुनते उनकी रागें आ जाती हैं। अलग से राग धारने की अपेक्षा नहीं रहती। मैंने भी चौबीसी की रागें धारी नहीं थी, सुनते-सुनते ही आ गईं। रामायण को कई वर्षों तक अच्छे प्रवक्ताओं से सुन लिया जाए तो रामायण सुनाने में सुविधा हो जाती है, रागें भी आ जाती हैं और किस प्रकार व्याख्या करनी है, यह कला भी हस्तगत हो जाती है। सुनने से वक्तृत्व कौशल का विकास हो सकता है। गीताकार ने कहा कि इस ग्रन्थ को कोई श्रद्धा और बिना द्वेष भाव से सुनता रहता है तो सुनने से भी उसे मुक्त होने का मौका मिलता है और मृत्यु के बाद ऊंचे लोक में जन्म लेने का मौका मिलता है। जो बात गीता के लिए है वही बात मैं उत्तराध्ययन के लिए भी कहना चाहता हूं। उत्तराध्ययन जैसे आगम को जो आदमी सुनता है, उसका स्वाध्याय करता है तो उसकी आत्मा निर्मल बनती है। यदि अर्थ का बोध हो जाए, फिर पाठ किया जाए और कुछ बातें जीवन में उतर जाए तो उत्तराध्ययन को सुनने और पाठ करने से बहुत बड़ा लाभ हो सकता है। वर्तमान जीवन भी बदल सकता है और भविष्य में वह मुक्ति की ओर अग्रसर हो सकता है।

सुनने के बाद थोड़ा मनन करना चाहिए। मनन करने से ज्ञान बढ़ेगा और ज्ञान बढ़ने से विवेक चेतना जागेगी। उसके बाद धर्म या सुनी हुई बात जीवन में उतरने की स्थिति में आ जाएगी। जब जीवन में धर्म उतरता है, तब त्याग की चेतना जागती है, फिर व्यक्ति प्रत्याख्यान करता है कि मैं बुरा काम नहीं करूंगा, नशा नहीं करूंगा, झूठ नहीं बोलूंगा आदि। जब आश्रव द्वार का निरोध हो जाता है, तब व्यक्ति तपस्या शुरु कर देता है जिससे कर्म निर्जरा होती है। कर्म निर्जरण की प्रक्रिया इतनी आगे बढ़ जाती है कि व्यक्ति अयोग होकर मोक्ष को भी प्राप्त कर लेता है। नित्य सुनने से व्यक्ति लक्ष्य प्राप्ति तक पहुंच सकता है।

मैंने बचपन में सुना था कि आगम का पाठ जो सुनता रहता है, उसके कान कभी बहरे नहीं होते हैं यानी कर्ण-शक्ति अच्छी रहती है। अगले जन्म में भी कान अच्छे रहते हैं। हमारे यहां सूत्र (आगम) के व्याख्यान के प्रति बड़ी श्रद्धा रही है। जो ऋषि महर्षि हुए हैं, उन्होंने जो अनुभव किया है, जाना है, उस

अनुभव की वाणी को जब वे बोलते हैं तो उस वाणी में मानो सार भरा होता है। उस वाणी का श्रवण, मनन करना चाहिए। हमारे यहां तीन शब्द आते हैं—श्रवण, मनन, निदिध्यासन। हम सुनें, मनन करें और गहरा चिन्तन करें। सुनना अच्छा है, मनन करने से और ज्यादा लाभ मिलेगा और निदिध्यासन का मतलब है और गहराई में जाना। मकान के द्वार को देखना एक बात है और मकान के भीतर जाना अलग बात है। हम द्वार तक न रहें, द्वार के भीतर जाने का प्रयास करें तो हमें और भी बहुत कुछ मिल सकेगा। हमारा ज्ञान और विकसित हो सकेगा।

गीता, उत्तराध्ययन जैसे ग्रन्थों को हम सुनते रहें या पढ़ते रहें तो हमें प्रेरणा मिलती रहेगी और साधक साधना में जागरूक बन जाएगा। ऐसा करना हमारे लिए श्रेयस्कर हो सकेगा।

२८

वीतरागता का सूर्य उगाओ

जैन वाङ्मय का एक छोटा-सा सूक्त है—**मन्दा मोहेण पाहुडा** अर्थात् जो मन्द होते हैं, उनकी चेतना मोह से आवृत होती है अथवा जिनकी चेतना मोह से आवृत होती है, वे मन्द लोग होते हैं। सूर्य तेजस्वी है, प्रकाशपुंज है, परन्तु बादल उसके आगे आ जाए तो सूर्य का प्रकाश या सूर्य की तेजस्विता भी मंद हो जाती है, उसमें अन्तर आ जाता है। हमारी चेतना भी एक प्रकार का सूर्य है, प्रकाशपुंज है। राग-द्वेष आदि मोह के अंग हैं। जब मोह चेतना को विकृत बना देता है, तब वह मंद हो जाती है। चेतना में एक प्रकार का अंधकार छा जाता है। मोह है तब तक ज्ञान का सूर्य प्रकट नहीं हो सकता। पहले मोह का बादल दूर होता है, तब केवलज्ञान का आदित्य प्रकट हो सकता है यानी अंधकार एक प्रकार का मोह है। जहां केवलज्ञान या वीतरागता का सूर्य है, वहां मोह का अंधकार ठहर नहीं सकता। श्रीमद्भगवद्गीता में कृष्ण के समक्ष अर्जुन कृतज्ञता के स्वर में बोल रहा है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।१८/७३।।

हे अच्युत (कृष्ण)! तेरी कृपा से मेरा मोह (भ्रम) नष्ट हो गया है और स्मृति फिर लौट आई है। अब मेरे सन्देह समाप्त हो गए हैं और मैं स्थिर हो गया हूं। अतः मैं तुम्हारे कहे अनुसार काम करूंगा।

हे प्रभो! मैं आपके सामने उपस्थित हूं। मेरा आपके साथ लम्बा संवाद हुआ, ज्ञान की चर्चा हुई। उसका प्रभाव यह हुआ कि मेरा मोह नष्ट हो गया है। जो स्मृति चली गयी थी, वह मानो वापिस लौट आयी है। मैं जागरूक बन गया हूं। यह सब आपके अनुग्रह से हुआ है। अब मैं संदेहमुक्त हो गया हूं,

संशयरहित हो गया हूं और मेरा संकल्प है कि आपकी जो आज्ञा होगी, उसके अनुसार चलूंगा। यह मोह आदमी के विचारों को विकृत बना देता है और आदमी के आचरण को भी दूषित कर देता है। आदमी राग-द्वेषपूर्ण हिंसा तभी करता है, जब उस पर मोह का प्रभाव होता है। वह गलत काम या बेईमानी भी तभी करता है, जब मोह का उस पर प्रभाव होता है। वह आलसी भी तभी बनता है, जब उस पर मोह का प्रभाव होता है। संस्कृत साहित्य में कहा गया—

उद्योगे नास्ति दारिद्र्यं, जपतो नास्ति पातकम्।
मौनिनः कलहो नास्ति, नास्ति जागरिते भयम्।।

जहां पुरुषार्थ है वहां दरिद्रता दूर हो जाती है। जो जप करता है, भगवान् का स्मरण करता है, उसका पाप दूर हो जाता है। मौनी आदमी के कलह नहीं होता यानी झगड़े के समय वाणी का संयम कर लिया जाए तो फिर झगड़ा नहीं होता। जहां जागरूकता है, वहां भय नहीं रहता, कोई खतरा नहीं होता।

आदमी मोह के प्रभाव को कम करने का प्रयास करे। मोह का प्रभाव रहता है तो संगठन में बिखराव भी पैदा हो सकता है। मोह है, राग-द्वेष है, आपस में सौहार्द नहीं, प्रेम नहीं तो संगठन भी धीरे-धीरे टूटने की स्थिति में आ जाता है। आचार्य भिक्षु ने अन्तिम समय में साधु-साध्वियों को जो शिक्षा दी, उससें यह शिक्षा विशेष रूप से थी कि सब आपस में प्रेम रखना। कई बार भाईयों में आपस में प्रेम नहीं होता तो परिवार में भी टूटन की स्थिति आ जाती है। प्रेम संगठन की मजबूती का एक बड़ा आधार बनता है। मोह का प्रभाव होता है तो संगठन को भी कमजोर होने का मौका मिल जाता है। यह मोह आदमी को काम करने नहीं देता अथवा होने नहीं देता, क्योंकि आलस्य सताता है। समय पर काम नहीं किया जाता है, बहुत विलम्ब हो जाता है तो फिर काल उसके रस को पी जाता है। इसलिए जो काम जिस समय करने का होता है, उस समय अगर आदमी काम करता है तो उसका अच्छा लाभ मिल सकता है। यह मोह आदमी को गहराई में जाने से भी रोकता है। आदमी तत्त्व की गहराई में इसलिए नहीं जा सकता, क्योंकि ज्ञानावरणीय कर्म का उदय रहता है और साथ में मोह का योग रहता है। जिसका मोह मंद हो जाए वह व्यक्ति गहरी खोज में जा सकता है, तत्त्व के अनुसंधान में जा सकता है। **जिण खोजा तिण पाईया, गहरे पानी पैठ** अर्थात् जो गहरे में जाता है उसे कुछ मिलता है।

आदमी के जीवन में मोह का प्रभाव रहता है। केवल ममताभाव ही नहीं,

अनेक भाव पैदा होते हैं। कर्मवाद के अनुसार विचार करें तो मोहनीय कर्म के दो प्रकार हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय आदमी के सम्यक् दर्शन को बाधित करनेवाला होता है और चारित्रमोहनीय आदमी के चारित्र को विकृत बनानेवाला होता है। सम्यक्त्व उसे प्राप्त होता है, जिसके अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क और दर्शनमोहनीय का क्षयोपशम, उपशम या क्षय होता है। सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गई, परन्तु अप्रत्याख्यान चतुष्क का उदय है तो सम्यक्त्व आ जाने पर भी श्रावकत्व नहीं आता। प्रत्याख्यान चतुष्क का उदय है तो साधुपन नहीं आता। संज्वलन चतुष्क का उदय है तो वीतरागता प्राप्त नहीं होती है। ये मोह के कुछ स्तर हैं। मोह कुछ कम हो जाता है तो सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, कुछ और कम हो जाता है तो साधुत्व की प्राप्ति हो जाती है और बिल्कुल उपशान्त हो जाता है तो उपशान्त मोह वीतरागता और संपूर्ण समाप्त हो जाता है तो क्षीण मोह वीतरागता प्राप्त हो जाती है। हमें ऐसा अभ्यास करना है, जिससे मोह को कम करते-करते हमारा पूरा मोह नष्ट हो जाए। हालांकि मैं इस बात को जानता हूं कि इस जन्म में तो हमारे लिए मोहनीय कर्म को सर्वथा क्षीण करना संभव नहीं लगता, पर मोहकर्म को काफी कमजोर किया जा सकता है, पतला किया जा सकता है और हमारी जन्ममरण की शृंखला को भी कम किया जा सकता है। चाहे पूर्ण वीतरागता न भी मिले, परन्तु आदमी को मोह कम करने का प्रयास चालू रखना चाहिए। यह पहाड़ है, इसको जितना तोड़ सकें, गिरा सकें, उतना अच्छा है। मोह रूपी पहाड़ को गिराने के लिए वैराग्य रूपी वज्र की अपेक्षा होती है। वैराग्य रूपी वज्र पास में है तो मोह को भी गिराया जा सकता है। पहाड़ कितना ही बड़ा क्यों न हो, वज्र उसको चूर-चूर कर देता है।

गीता में एक लम्बे संवाद के बाद अर्जुन ने आत्मतोष की अनुभूति की। हमारे जीवन में आत्मतोष एक बड़ी चीज होती है। बड़ों के पास कोई बातचीत करे और आत्मतोष न मिले तो समझना चाहिए कहीं कोई न कोई कमी है। या तो बतानेवालों में कुछ ज्ञान की कमी है या समझनेवालों में कमी है। कृष्ण जैसे व्यक्तित्व से अर्जुन को बात करने का मौका मिला। बात भी थोड़ी देर के लिए नहीं, लम्बा संवाद करने का मौका मिला और संवाद के लगभग अन्त में अर्जुन ने कहा—प्रभो! अब मेरे मोह का आवरण दूर हो गया है और मुझे स्मरण भी हो गया है। मुझे आपका योग मिला, तब मेरा मोह नष्ट हुआ। अब मेरे मन में कोई सन्देह नहीं रहा। मैं गतसन्देह हो गया हूं। अब आपकी जो आज्ञा होगी, वैसा मैं करने के लिए तैयार हूं।

मेरा सोचना है कि अर्जुन का मोह तो एक अंश में नष्ट हुआ होगा, परन्तु मोह का पूर्ण विलय करना बहुत उत्तम बात होती है। जैन वाङ्मय में मोहनीय कर्म के पूर्ण विलय की बात आती है। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया कि आदमी के भीतर राग-द्वेष का भाव है। वही उसके दुःख का कारण बनता है। कोई पदार्थ दुःख का कारण नहीं बनता। पदार्थ आदमी को विकृत नहीं बनाता और पदार्थ आदमी में समता भी पैदा नहीं करता। मोह का भाव ही आदमी में विकृति पैदा करता है। हमारी साधना मुख्य रूप से यही होनी चाहिए कि हमारा मोह प्रतनु बने। हमारा कषाय उपशान्त या क्षीण हो। मोह को प्रतनु करने की साधना ही हमारे जीवन की और अनन्तकाल की यात्रा की बहुत बड़ी उपलब्धि है। अगर हमने मोह को कमजोर करने की साधना कर ली तो मानना चाहिए हमने बहुत बड़ा काम कर लिया। हमारी मोह-मुक्तता की साधना ही हमारे लिए कल्याणकारी और श्रेयस्कर हो सकेगी।

आचार्य महाश्रमण : एक परिचय

आचार्य महाश्रमण उन महान संत-विचारकों में से एक हैं जिन्होंने आत्मा के दर्शन को न केवल व्याख्यायित किया है, अपितु उसे जीया भी है। वे जन्मजात प्रतिभा के धनी, सूक्ष्मद्रष्टा, प्रौढ़ चिंतक एवं कठोर पुरुषार्थी हैं। उनकी प्रज्ञा निर्मल एवं प्रशासनिक सूझबूझ बेजोड़ है। एक विशुद्ध पवित्र आत्मा जिनके कार्यों में करुणा, परोपकारिता एवं मानवता के दर्शन होते हैं तथा जिनकी विनम्रता, सरलता, साधना एवं ज्ञान की प्रौढ़ता भारतीय ऋषि परम्परा की संवाहक दृष्टिगोचर होती है।

१३ मई, १९६२ को राजस्थान के एक कस्बे सरदारशहर में जन्मे एवं ५ मई, १९७४ को दीक्षित हुए आचार्य महाश्रमण अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी एवं आचार्यश्री महाप्रज्ञ की परम्परा में तेरापंथ धर्मसंघ के ११वें आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

अध्यात्म, दर्शन, संस्कृति और मानवीय चरित्र के उत्थान के लिए समर्पित आचार्य महाश्रमण आर्षवाणी के साथ अध्यात्म एवं नैतिकता, अनुकंपा और परोपकार, शांति और सौहार्द जैसे मानवीय मूल्यों एवं विषयों के प्रखर वक्ता हैं।

वे एक साहित्यकार, परिव्राजक, समाज सुधारक एवं अहिंसा के व्याख्याकार हैं। आचार्य महाप्रज्ञ के साथ अहिंसा यात्रा के अनन्तर आपने लाखों ग्रामवासियों एवं श्रद्धालुओं को नैतिक मूल्यों के विकास, साम्प्रदायिक सौहार्द, मानवीय एकता एवं अहिंसक चेतना के जागरण के लिए अभिप्रेरित किया।

'चरैवेति-चरैवेति' इस सूक्त को धारणकर वे लाखों-लाखों लोगों को नैतिक जीवन जीने एवं अहिंसात्मक जीवनशैली की प्रेरणा देने के लिए पदयात्राएं कर रहे हैं।

अत्यन्त विनयशील आचार्य महाश्रमण अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन विज्ञान एवं अहिंसा प्रशिक्षण जैसे मानवोपयोगी आयामों के लिए कार्य कर तनाव, अशांति तथा हिंसा से आक्रांत विश्व को शांति एवं संयमपूर्ण जीवन का संदेश दे रहे हैं।

शांत एवं मृदु व्यवहार से संवृत्त, आकांक्षा–स्पृहा से विरक्त एवं जनकल्याण के लिए समर्पित युवा मनीषी आचार्य महाश्रमण भारतीय संत परम्परा के गौरव पुरुष हैं।

आचार्यश्री महाश्रमण की प्रमुख कृतियां

आओ हम जीना सीखें

जीता हर कोई है, किन्तु कलापूर्ण जीना कोई-कोई जानता है। प्रस्तुत पुस्तक में आचार्यश्री महाश्रमण ने कलात्मक जीवन के सूत्रों को प्रकाशित करते हुए जीवन की प्रत्येक क्रिया का व्यवस्थित प्रशिक्षण दिया है। वस्तुतः यह कृति 'कैसे जीएं' इस प्रश्न का सटीक समाधान है।

क्या कहता है जैन वाङ्मय

इस पुस्तक में जैन शास्त्रों में उपलब्ध सफलता के सूत्रों में से चुनिंदा मोतियों को पिरोया गया है। प्रस्तुत कृति आचार्यश्री महाश्रमण के हृदयस्पर्शी प्रवचनों का महत्त्वपूर्ण संग्रह है।

दुःख मुक्ति का मार्ग

आचार्यश्री महाश्रमण ने इस पुस्तक में साधना के रहस्यों को प्रस्तुत किया है। सुख, शांति और आनंद की प्राप्ति में यह कृति मार्गदर्शक की भूमिका अदा करती है।

संवाद भगवान से

प्रतिष्ठित जैनागम उत्तराध्ययन के २९वें अध्ययन पर आधारित इस पुस्तक में भगवान महावीर और उनके प्रमुख शिष्य गौतम के रोचक संवाद के माध्यम से मन में संशय पैदा करने वाले प्रश्नों को विस्तृत रूप में समाहित किया गया है। यह कृति दो भागों में उपलब्ध है।

महात्मा महाप्रज्ञ

युगप्रधान आचार्यश्री महाप्रज्ञ तेरापंथ के आचार्य, अनुशास्ता, साहित्यकार और प्रवचनकार थे। इन सबसे पहले वे एक सन्त थे, महात्मा थे, उनकी आत्मा में महानता थी। उनके उत्तराधिकारी आचार्यश्री महाश्रमण ने उन्हें नजदीकी से देखा और जाना। प्रस्तुत पुस्तक में श्री महाप्रज्ञ के नौ दशकों के इतिहास और रहस्यों को उजागर किया गया है।

रोज की एक सलाह

लघु आकार में प्रस्तुत यह पुस्तक 'गागर में सागर' उक्ति को चरितार्थ करती है। आचार्य महाश्रमण द्वारा सूक्तियों में दी गई 'रोज की एक सलाह' हर व्यक्ति के लिए प्रतिदिन की पर्याप्त खुराक है। सदा साथ रखी जा सकने वाली यह कृति न केवल सफलता की प्राप्ति में सहायक है, अपितु व्यक्तिगत समस्याओं के समाधान में भी इसकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

१. सुखी बनो २. सम्पन्न बनो ३. विजयी बनो

आचार्य महाश्रमण ने प्रस्तुत तीनों पुस्तकों में श्रीमद्भगवद्गीता और उत्तराध्ययन की तुलनात्मक विवेचना करते हुए साधक का सुन्दर पथदर्शन किया है। तीन भागों में उपलब्ध यह ग्रन्थमाला जहां दो महनीय ग्रन्थों को युगीन रूप में प्रस्तुति देती है, वहीं अध्यात्मरसिकों के लिए पोषक का कार्य भी करती है।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं

आचार्यश्री महाश्रमण की प्रस्तुत पुस्तक में जैन तत्त्वज्ञान, साधना के प्रयोगों, महापुरुषों और उनके अवदानों आदि विविध विषयों से संबद्ध उपयोगी और प्रेरणास्पद सामग्री संजोई गई है।

शिलान्यास धर्म का

धर्म का आदि बिन्दु है - सम्यक्त्व। आचार्य महाश्रमण की प्रस्तुत कृति सम्यक्त्व, उसके लक्षण, दूषण, भूषण तथा देव, गुरु, धर्म आदि विषयों पर आधारित प्रवचनों और प्रश्नोत्तरों का संग्रह है। जैन अनुयायियों की आस्था के दृढ़ीकरण में यह कृति सहायक की भूमिका अदा करती है।

● प्राप्ति स्थान ●

जैन विश्व भारती

पोस्ट : लाडनूं-३४१३०६, जिला : नागौर (राज.)

फोन नं. : (०१५८१) २२६०८०/२२४६७१

ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

श्रीमद्भगवद्गीता और उत्तराध्ययन भारतीय साहित्य भण्डार के अमूल्य रत्न हैं। सनातन परम्परा में जहां गीता श्रद्धास्पद मानी जाती है, वहीं उत्तराध्ययन एक प्रतिष्ठित जैनागम है। परम्परा भेद होने पर भी दोनों ग्रन्थों में अनेकानेक समानताएं हैं। दोनों ग्रन्थों में वर्णित साधना के गहरे सूत्र अध्यात्म की ऊंचाइयों पर ले जाने वाले हैं।

आचार्य श्री महाश्रमण एक ऐसे सन्त हैं, जिनके लिए पन्थ और ग्रन्थ का भेद बाधक नहीं बनता। आपके प्रवचन सर्वजनहिताय होते हैं। हर जाति, वर्ग, क्षेत्र और सम्प्रदाय की जनता आपके प्रवचनों से लाभान्वित होती रही है।

श्रीमद्भगवद्गीता और उत्तराध्ययन पर आधारित अपनी प्रलम्ब प्रवचन शृंखला में आपने दोनों ग्रन्थों के गूढ़ रहस्यों को सरलभाषा में प्रस्तुत किया है। एक जैनाचार्य द्वारा उत्तराध्ययन की भांति गीता की भी अधिकार के साथ सटीक व्याख्या करना आश्चर्यजनक है। प्रस्तुत है उस महनीय प्रवचनमाला का तृतीय ग्रन्थ.....

ISBN 81-7195-232-1

₹60.00